RNI No. 7127/60

डाक पंजीयन संख्या - Jaipur City / 411 2017-19

संघशक्ति

मासिक समाचार पत्रिका

वर्ष : 55 अंक : 07 कुल पृष्ठ : 36 4 जुलाई, 2018

शुल्क एक प्रति : 15/- वार्षिक : 150/- रुपये पंचवर्षीय 700/- रुपये दस वर्षीय 1300/- रुपये

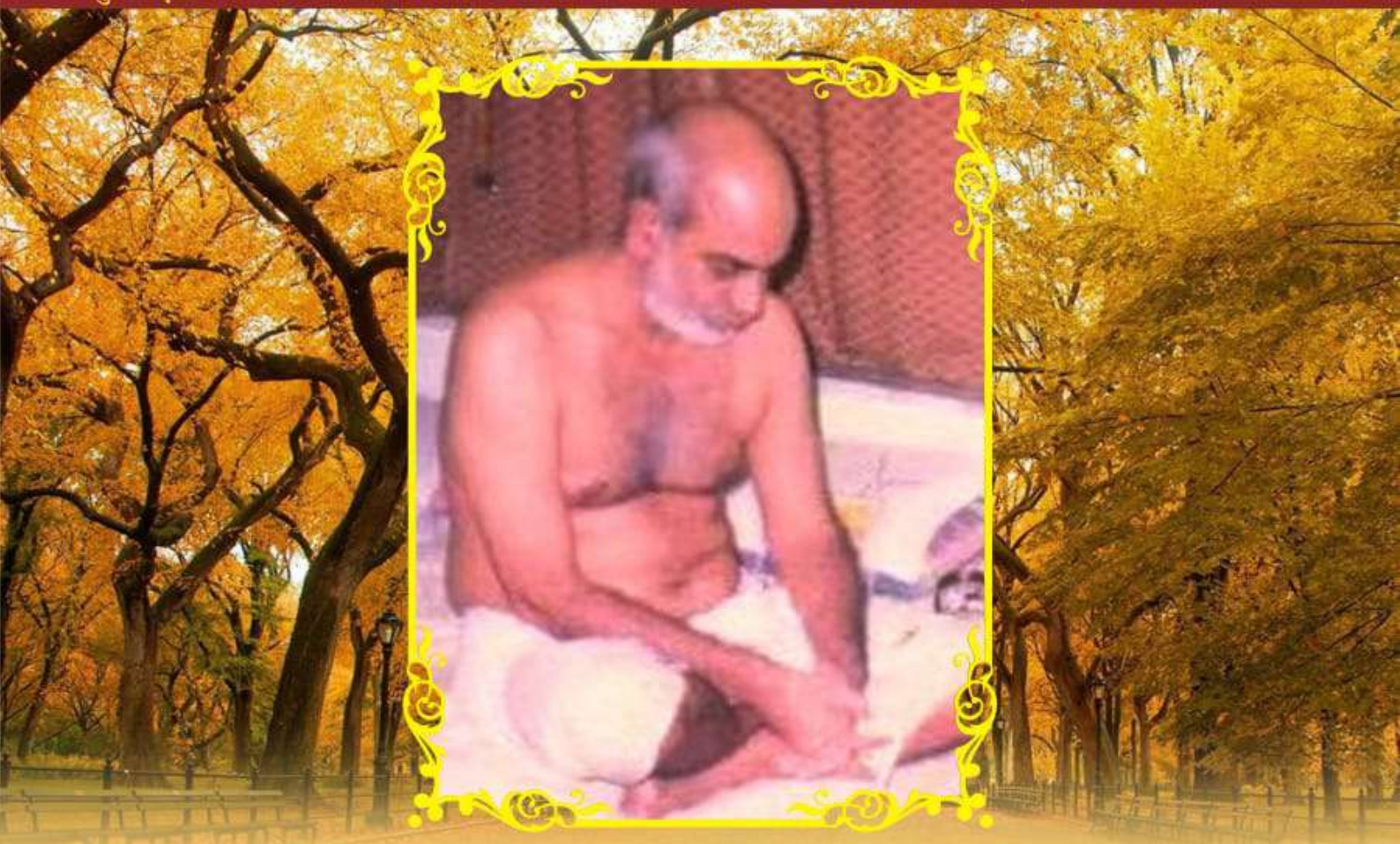

ओ जाती रो भाग, सांचो सोनो सोळमो।
कदै न लाग्यो दाग, कीरत रै नाराण जी।।

ज्याँरा किसा बखाण, छत हेटै मरिया घणा।
योग-समाधि प्राण, त्याग्या तूं नाराण जी।।

लीधी भगती ठाण, माळा साटै मोकळा।
करम योग न जाण, तपियो तूं नाराण जी।।

भगती रजपूतीह, अै न्ह कीं रा बाप री।
दोन्यां न जीतीह, सत सूँ तूँ नाराण जी।।

संघशक्ति

4 जुलाई, 2018

वर्ष : 55 अंक-07

-: सम्पादक :-

लक्ष्मणसिंह वेण्यांकाबास

शुल्क - एक प्रति : 15/ रुपये, वार्षिक : 150 रुपये, पंचवर्षीय : 700/- रुपये , दस वर्षीय : 1300 /- रुपये

विषय - सूची

❍ समाचार संक्षेप	✍	04
❍ चलता रहे मेरा संघ	✍ श्री भगवानसिंह रोलसाहबसर	05
❍ पू. नारायणसिंह जी	✍ श्री अनुज	07
❍ भगवत् सान्निध्य का अभ्यास	✍ स्वामी श्री यतीश्वरानन्द	08
❍ पूज्य श्री तनसिंहजी (के सम्बन्ध में)	✍ श्री चैनसिंह बैठवास	12
❍ विचार-सरिता (चतुर्त्रिंशत् लहरी)	✍ श्री विचारक	14
❍ अपने आपको टटोला	✍ श्री अजीतसिंह कुणघेर	16
❍ हिंदवाणो सूरज	✍ डॉ. अंजु	17
❍ रावत्रियांजी	✍ श्री मूलसिंह चांदेसरा	18
❍ अपना व्यक्तित्व प्रभावशाली बनायें	✍ श्री खुमानसिंह दुदियाँ	19
❍ वीर शिरोमणि महाराणा प्रताप	✍ श्री उम्मेदसिंह रतनगढ़	21
❍ भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन में राजपूतों...	✍ श्री भंवरसिंह मांडासी	22
❍ सच्ची-मनुष्यता	✍ श्री सुमेरसिंह सुल्ताना	24
❍ रघुकुल रीति सदा चलि आई	✍ श्री जैसू खानपुर	27
❍ समय : सबका सूत्रधार	✍ श्रीमती रश्मि रामदेरिया	29
❍ भक्त श्री माधोदास जी मैदानी	✍ श्री अवधबिहारीलाल कपूर	31
❍ अपनी बात	✍	34

समाचार संक्षेप

शिविर व कार्य योजना बैठकें :

संघ कार्य निरन्तर प्रवाहित होने वाला कार्य है। जो कार्य निरंतर होते रहने वाला है, उसका दायित्व कुछ गिनती के लोगों तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता, चाहे वे कितने ही क्षमतावान क्यों नहीं हों। क्योंकि व्यक्ति की आयु सीमित होती है और निरन्तर प्रवाहित होते रहने वाले कार्य की आयु सीमित नहीं होती। इसलिए यह आवश्यक है कि उत्तरदायित्व निभाने वाले भी नये-नये आते रहें। इस आवश्यकता को देखते हुए ही नये-नये स्वयंसेवकों में दायित्वों का विभाजन किया जाता रहा है, ताकि सक्रियतापूर्वक अपने सौंपे गए दायित्व को निभा कर वे अपने आत्मविश्वास को दृढता प्रदान कर सकें तथा और अधिक गुरुतर उत्तरदायित्व निभाने की क्षमता अर्जित कर सकें। पिछले कुछ वर्षों से उभरते हुए नई पीढी के स्वयंसेवकों को धीरे-धीरे गुरुतर उत्तरदायित्व दिए जाते रहे और अब पूरा कार्य उन्हीं के हाथों में है। बुजुर्ग पीढी संघ कार्य से विलग नहीं हुई है, बल्कि नई पीढी के सहयोग के लिये तत्पर है।

संस्कार निर्माण का कार्य छोटी उम्र में ही कारगर होता है, इसलिए विद्यार्थियों में ही संघ कार्य होता है और इसीलिए शिक्षा-सत्र के अनुसार ही संघ का सत्र माना जाता रहा है। नई पीढी ने परस्पर विचार-विमर्श के बाद निर्णय लिया कि क्योंकि संघ की स्थापना 22 दिसम्बर को हुई थी इसलिए संघ का सत्र भी 22 दिसम्बर से अगले वर्ष 21 दिसम्बर तक रखा जाना अधिक उचित है। 17 दिसम्बर, 2017 को सम्पन्न समीक्षा बैठक में लिये गए निर्णय के अनुसार ही नया सत्र 22 दिसम्बर, 2017 से प्रारम्भ हो गया।

दिसम्बर मास में आगे होने वाली वार्षिक परीक्षाओं की हलचल विद्यार्थियों में प्रारम्भ हो जाया करती है। लेकिन उत्साहित दायित्व निर्वाहक बन्धुओं ने 23 से 31 दिसम्बर के बीच ही 10 बालकों के शिविर और 4 बालिकाओं के शिविर सम्पन्न किए जिनमें से 4 बालकों के शिविर और एक बालिका शिविर गुजरात में हुए तथा 2 बालिका शिविर हैं तथा 2 बालकों के शिविर मध्यप्रदेश में सम्पन्न हुए। जनवरी माह में एक दंपती शिविर तथा 3 बालकों के शिविर सम्पन्न हुए। अप्रेल में गुजरात में एक बाल शिविर सहित 4 शिविर सम्पन्न हुए। मई और जून माह में 18 शिविर सम्पन्न हो चुके हैं, जिनमें से 2 बालिका शिविर हैं तथा 3 मध्यप्रदेश में तथा एक गुजरात में बालकों के शिविर हैं।

जून माह के बाद सत्र के अगले 6 माह हेतु कार्य योजना बनाए जाने के लिये संभाग स्तर पर बैठकें प्रारम्भ हो गई। अपने प्रान्त, संभाग में शिविरों के आयोजन, शाखाओं के संचालन तथा नई शाखाएँ प्रारम्भ करने के लक्ष्य, सम्पर्क यात्राएँ, स्नेह मिलन, जयन्तियाँ, पत्रिकाओं के ग्राहकों के लक्ष्य आदि विषयों पर इन कार्य योजना बैठकों में निर्णय लिए जा रहे हैं।

गुजरात के सभी प्रान्तों की कार्ययोजना बैठक सुरेन्द्रनगर स्थित संघ कार्यालय 'शक्तिधाम' में 9 जून की शाम से 10 जून तक सम्पन्न हुई। कुल 41 प्राथमिक प्रशिक्षण शिविर, दो माध्यमिक शिविर तथा 4 सूरत में प्राथमिक शिविरों के प्रस्ताव विभिन्न प्रान्तों से आए। 45 नई शाखाएँ प्रारम्भ किए जाने के लिये स्थान निश्चित किए गये। पत्रिकाओं के ग्राहक बनाने के लक्ष्य भी लिये गये।

जालोर संभाग की कार्ययोजना बैठक 4 जून को सम्पन्न हुई जिसमें 21 प्राथमिक शिविर तथा एक माध्यमिक प्रशिक्षण शिविर के आयोजन का लक्ष्य रखा गया। ग्राहकों हेतु जुलाई माह में अभियान चलाने का निर्णय हुआ। जयपुर संभाग की बैठक 5 जून को सम्पन्न हुई जिसमें 15 प्राथमिक प्रशिक्षण शिविर का लक्ष्य रखा था। संघशक्ति व पथ-प्रेरक के 1000-1000 ग्राहकों का लक्ष्य रखा गया। जोधपुर की बैठक 9 जून को सम्पन्न हुई। 15 बालकों के प्राथमिक शिविर, एक बालकों का माध्यमिक प्रशिक्षण शिविर तथा 2 बालिकाओं के प्राथमिक शिविर आयोजित करने का निश्चय हुआ। ग्राहकों व पर्व आदि की योजना बनाई गई। 3 जून को नोखा, कोलायत की बैठक हुई जिसमे चारण वाला व छनेरी में प्राथमिक शिविर निश्चित हुए और शाखाओं को नियमित बनाए रखना तय हुआ। 13 जून को पोकरण की तथा 12 जून को नागौर की बैठकें सम्पन्न हुई।

चलता रहे मेरा संघ

(संघशक्ति प्रांगण जयपुर में आयोजित विशेष शिविर में दिनांक 4.9.2007 को प्रात:कालीन सत्र में संघप्रमुख श्री भगवानसिंहजी रोलसाहबसर के उद्‌बोधन का संक्षेप)

प्रेरणादायी गीत हमने अभी गाया –

'सोयेगी जो सारी दुनिया तब भी मैं तो जागूंगा।
ज्योति जो जगाई उसको जीते जी जलाऊँगा।।'

हमारे ऊपर कितना विश्वास जताया गया है पू. तनसिंहजी द्वारा, इस गीत में। हमारा परस्पर विश्वास ही हमको बलवान बनाता है। जब-जब भी हमारे परस्पर विश्वास में कमी आएगी, तब-तब कदम अवश्य लड़खड़ाएंगे। यदि विश्वास बना रहता है तो कदम संतुलित चलते रहते हैं।

युगों की हो मंजिल चन्द कदमों से मैं नापूंगा,
तेरा सहारा जो आँखों में झलके।

उन्होंने हम लोगों के प्रति कितना संजोए रखा, वैसा हमने यदि बनाए रखा तो हमारा जीवन सरस बनेगा। यहाँ चार दिन साथ रहकर हम वह सरसता अनुभव कर रहे हैं।

अनेक शंकाएँ, कुण्ठाएँ, संदेह की खरपतवार जो थी, इस शिविर में हमने उस खरपतवार को निकाला है। हमको ऐसा लगता है कि हमने किया तब ऐसा हुआ। ऐसा सोचना ही कुछ करने को प्रेरित करता है। पर कर्म करने के उपरान्त यह अनुभव होता है कि सब कुछ हमारे प्रयास से नहीं होता। संघ कार्य तो पुण्य कर्म है और पुण्य कर्म करने से मन-हृदय-बुद्धि की निर्मलता, आचरण की स्वच्छता आती है। इसी का नाम है-ईश कृपा। जब तक पुण्य कर्म नहीं करते, निर्मलता नहीं आती तो ईश कृपा नहीं होती।

ईश कृपा के बिना केवल करने से अनुकूल परिणाम नहीं आते। हमारे बहुत सारे पाप कर्म जो पहले के हैं वे हमारे पुण्य को आगे नहीं बढने देते और हमारी यात्रा में व्यवधान आता है। श्री क्षत्रिय युवक संघ या ईश्वर को समझें या नहीं समझें, पर जब हम हमारे अन्दर झांकते हैं तो आलस्य, प्रमाद, चित्त-चाञ्चल्य से हम विवश लगते हैं। चित्त की चञ्चलता पुण्य-पाप कर्मो का परिणाम है। पू. तनसिंहजी ने कहा है कि सद्‌कर्म ही चित्त को शुद्ध करने का उपाय है। सद्‌कर्म करने के फलस्वरूप ही ईश्वर की कृपा बरसती है, तभी मन लगता है कर्म करते रहने में।

अत: कहे गए छोटे-छोटे कर्म करें। योग तो इन छोटे कर्मों से नहीं होगा लेकिन योग के लिये यात्रा का आरक्षण हो जाता है। यात्रा ही मंजिल तक पहुँचाती है। जो कुछ करने के लिये आपको बताया गया है, वह करें। जो करने को आपने स्वीकार किया है, उसे पूरे मन से, दिल से करें। इस शिविर में बताई गई बातें यात्रा के लिये आरक्षण की गारंटी है। कहा गया करो और निश्चिन्त हो जाओ, कल्याण निश्चित है। टिकट व आरक्षण की व्यवस्था के बाद यात्रा की तैयारी तो करनी होगी, पर सीट तो आरक्षित है। हमारी यात्रा सामुहिक है। एक दूसरे से बंधी हुई है। तभी कहा है,-***साथ न तुम तो बहूंगा गल के।*** जो पू. तनसिंहजी ने कहा है, वही वेद, उपनिषद् गीता में कहा गया है।

अन्तर दर्शन प्रारम्भ करेंगे तो बड़ी मुश्मिल होगी, परन्तु बहुत आनन्द आएगा। कष्ट तो भौतिक-सांसारिक हैं। दुख मन से सम्बन्धित है-मानसिक है। संघ की साधना में भी कष्ट हैं पर कार्य करने में आनन्द भी खूब आता है। जब हम हमारे अन्तर को टटोलते हैं तो वहाँ विकृतियों के कीड़े कुलबुलाते नजर आएंगे, पर वे जाते हुए भी नजर आएंगे, जब हम उनको देखेंगे।

शिविर में हमने परस्पर भरोसा जताया है-पर ऐसी शंका मन में आ सकती है कि कल्याण हो जाए, यह कैसे हो पाएगा? इन बताए गये छोटे-छोटे कामों को यदि हम मन से, पूरी लगन व तत्परता से करते रहे तो यह सब संभव होगा। दो-दो कदम से लम्बी दूरी हम नाप लेंगे। लंका विजय कर लेंगे, पर साथ रहें। हम यहाँ

हमारा भार हल्का करके जा रहे हैं, इस भार को पुन: न ले लें अन्यथा यात्रा मुश्किल हो जाएगी। आपको जो प्रकाश दिखाई दिया, उसे अन्य लोगों को भी दिखायें। इससे उनका भी कल्याण होगा, आपको भी लाभ होगा। आप औरों को भेजो और वे भी औरों को लाएँ। आप आओ और अन्यों को भी लाओ। तभी ***सर्वेभवन्तु सुखिन:*** की बात बनेगी।

श्री क्षत्रिय युवक संघ का कार्य स्वहित और जनहित दोनों का है। एक-से-एक कड़ी जुड़ी हुई है। आपके जीवन का प्रभाव मुझ पर पड़ता है व मेरे जीवन का प्रभाव आप पर पड़ता है। गृहस्थ जीवन में रहते साधना करते रहना मुश्किल होता है पर यदि परस्पर जुड़े रहते हैं तो सरलता आती है। आपकी साधना-यात्रा से, आपके अच्छे कर्मों से मुझे प्रेरणा मिलती है और मेरी यात्रा से आपको। परस्पर हमारे विश्वास की जड़ को दृढ़ करें। जो चल रहा है केवल उसी में मस्त रहना नहीं है, और अधिक भली प्रकार से चलने का प्रयास करना है। संसार से लेना-देना है पर पहले स्वयं को ठीक करना है। फिर रुकना नहीं है और हमारी मस्ती से संसार को भी मस्त बनाना है। केवल मेरे में ही भगवान नहीं है, सभी में भगवान है, कण-कण में भगवान है। हमें केवल पूर्व का इतिहास ही दोहराना नहीं है, आगे की यात्रा का नया इतिहास बनाना है। इसलिए प्रदेश के सभी जिलों में, गुजरात के अधिकांश जिलों में, पूरे भारत में इसे फैलाना है। मस्ती को विस्तृत होने दो, आस-पड़ोस को मस्ती देने के लिये।

और अधिक गुरुतर कार्य सौंपने के लिये वर्तमान सहयोगियों को बदलने की चाह है। सभी को आगे बढना है अत: हर एक को चाहिए कि अपना वर्तमान दायित्व निभाने के लिये विकल्प तैयार करे। आप स्वयं नया भार लें, उसे फिर दूसरे को सौंपकर फिर नया भार लें, यही गति चलती रहे। गति रुकी तो रुकावट आ जाएगी, अत: गति बनाए रखें। क्षत्रिय युवक संघ का कार्य हमारे लिये सदा सर्वदा का कार्य है। अत: आज के कार्य में ही न उलझ जाएँ। दिए हुए कार्य को भूलें नहीं और करते रहें।

हमारे स्वयं के अन्दर जो कुछ ठीक नहीं है, उसे जग-हिताय ठीक कर लें। आपको जगत का हित करना है पर पहले अपना हित करें। अपना उत्तरदायित्व पूरी लगन से निभाएँ, इसी में अपने हित का सम्पादन होगा। रोएँ नहीं, दुख को दूर करने के लिये कष्टों को झेलना ही पड़ेगा। अपना दुख दूर कर, फिर अन्यों को कष्ट लेकर दुख दूर करने को प्रेरित करें। ठूंठ बनकर न बैठे रहें, कौंपूलें निकाल लें। भगवान का आरक्षण चाहिए तो मेरा निवेदन मानकर बताई गई छोटी-छोटी बातों को अपना लो। हमारी आने वाली पीढियाँ हमें याद करें ऐसे इतिहास पुरुष बनो। भार उतारो, नया भार लो, फिर उतारो, नया लेकर चलो। आपके गुणों से मुझे प्रेरणा मिलती है पर आपके दुर्गुणों से मुझे दुख होता है। अत: जो त्याज्य है, उसे छोड़ो। हम एक दूसरे के बिना अधूरे हैं। ईश्वर के इस संघ कार्य में, परस्पर सहयोगी हैं। यह हमारा साझा कार्य है और साझा ही रहेगा।

सुबह-शाम दोनों समय थोड़ी देर के लिये बैठें। नियम से बैठें, या किसी भी समय आधे घण्टे के लिये बैठें। आरम्भ में नाम जप में श्वास के साथ ॐ। थोड़ा मन लगने लगे तब होठों में ॐ जप हो और ईष्ट का चिंतन हो। यह करते रहने से ही अन्तरदर्शन होगा। कितनी देर ध्यान टिकता है यह तब पता चलेगा। इसी से आपकी अपनी पहचान जगेगी। ईमानदारी व श्रद्धा पूर्वक करेंगे तो बाधक तत्व सामने आएंगे। बाधाएँ खड़ी होंगी पर इस गन्दगी को देखने से ही वह गन्दगी साफ होगी। गन्दगी देखकर चिंता की आवश्यकता नहीं, दुश्मन पहचान में आएगा तब ही तो उसे मार पाएंगे। आँखें खुली रहें या बन्द, यह जैसी आपको सुविधा हो। कारणवश कभी चूक जाएँ तो उसकी पूर्ति करो। यथार्थ गीता हलचल पैदा करती है। यह हलचल हो जाए तो संघ समझ में आना प्रारम्भ हो जाए। हमारे बन्द दरवाजे खुल जाएँ।

*

जन्मदिवस 30 जुलाई के अवसर पर

पू. नारायणसिंह जी

– *अनुज*

झरोखे हों ऊँचे नभ के, पल भर ही में पा लूंगा।
युगों की हो मंजिल चन्द कदमों से मैं नापूंगा।।

श्री क्षत्रिय युवक संघ के पूर्व संघप्रमुख पू. नारायणसिंहजी ने कभी ऐसी घोषणा नहीं की, पर ऐसा किया। तपस्वियों को कठोर तप-साधना के बाद जिस योग की प्राप्ति होती है, उन्होंने अपने जीवन में सहज ही उसे पा लिया। उनके जीवन को भले ही सरल और सहज की संज्ञा दी जाए, पर क्या वास्तव में उनका जीवन साधारण ही था? 18-19 वर्ष की आयु में जब यौवन सांसारिक उड़ाने भरता है, उस आयु में सांसारिक चाह से अलग सत्य के पथिक को पहचानना और चल पड़ना कि ***तुम्हीं चलो वे पंथ हैं मेरे,*** क्या कोई साधारण प्राणी ऐसा कर सकता है? पर संसार को भी ठुकराया नहीं, संसार में ही रहे, संसार के हर रंग में से गुजरे पर अलिप्त रहे।

भगवान कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिया गया गीता ज्ञान गीता पढने के पूर्व ही उन्होंने अपने जीवन में उतार लिया-

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।

हे भारत! तू सब प्रकार से उस परमेश्वर की ही शरण में जा। उस परमात्मा की कृपा से ही तू परम शान्ति को तथा सनातन परमधाम को प्राप्त होगा। क्या होता है शरण में जाना? लज्जा, भय, मान, बड़ाई और आसक्ति को त्याग कर एवं शरीर और संसार में अहंता, ममता से रहित होकर केवल एक परमात्मा को ही परम आश्रय, परमगति और सर्वस्व समझना तथा अनन्य भाव से, अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक उसकी आज्ञानुसार निस्वार्थ भाव से कर्तव्य कर्मों का आचरण करना ही सब प्रकार से शरण में जाना है। यही उन्होंने किया जो पू. तनसिंहजी की सेवा के रूप में प्रकट हुआ। सेवा केवल शारीरिक सेवा नहीं, उनकी इच्छानुसार जीवन को ढालना और केवल आज्ञा ही नहीं, उनकी इच्छानुसार ही कर्मरत रहना। ***सोये मिलेंगे कदाचित ये सारे, कोई जो, मांगे तो, जगता रहूँगा सिरहाने*** यह नींद में सोना नहीं है। कर्तव्य मार्ग की यात्रा से भ्रष्ट होना ही सोना है। पू. नारायणसिंहजी ही ऐसा कह सकते हैं कि चाहे सभी लोग पथ-भ्रष्ट हो जाएँ पर मैं सदैव तत्पर रहूँगा, आपके इंगित पर, आपकी चाह पर कर्मरत रहूँगा। ऐसा कोई साधारण व्यक्ति नहीं कर सकता।

गीता में भगवान ने अपने प्रिय भक्त की व्याख्या करते हुए कहा है-जो सब भूतों में द्वेषभाव से रहित, स्वार्थरहित, सबका प्रेमी और हेतु रहित दयालु है तथा ममता और आसक्ति से रहित, अहंकार से रहित, सुख-दुखों की प्राप्ति में सम और क्षमावान है अर्थात् अपराध करने वाले को भी अभय देने वाला है; तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियों सहित शरीर को वश में किए हुए है; आकांक्षा रहित है, बाहर-भीतर से शुद्ध, चतुर, पक्षपात रहित और मुझमें दृढ निश्चय वाला है ऐसा भक्त मुझको प्रिय है। पू. नारायणसिंहजी की जीवन यात्रा की परिणति इस स्थिति में ही हुई। ये सभी विशेषताएँ अक्षरस: उनके जीवन में हमने देखी। ऐसी उपलब्धि का जीवन-यात्री साधारण कैसे हो सकता है?

पू. तनसिंहजी से उन्हें पूरा मान मिला, पू. तनसिंहजी के अनुयायियों से भी पूरा मान मिला; परन्तु अपमान भी खूब मिला परन्तु वे इससे विचलित क्यों हों, क्योंकि वे जानते थे- ***त्याग तप को युग से मिलती है सदा आलोचना।*** इसलिए मान-अपमान से अप्रभावित रहकर जो कौम की वन्दना उन्होंने की, उसके लिये उन्हें किसी की गवाही की आवश्यकता नहीं। यह धरती और यह आसमान ही ऐसे एकनिष्ठ कर्मयोगियों के गवाह हुआ करते हैं। जिनकी शरण में वे होते हैं, वे तो सब कुछ जानते ही हैं, फिर गवाहों की आवश्यकता ही कहाँ है।

पू. तनसिंहजी ने श्री क्षत्रिय युवक संघ की साधना-प्रणाली को ईश्वरीय आराधना बताया और उनके इस कथन की पुष्टि पू. नारायणसिंहजी ने इसी साधना-प्रणाली से परम सिद्धि प्राप्त करके की। इसी मार्ग के हम भी पथिक हैं, पर साधारण संसारी लोग ही हैं। वे असाधारण थे अत: उनके जीवन की कुछ झलक मिले, उस मार्ग के प्रति निष्ठा बलवान बने, यही चाह है।

गतांक से आगे

भगवत् सान्निध्य का अभ्यास

– स्वामी यतीश्वरानन्द

अतिश्रम बाधक है :

कुछ लोग हैं, जो स्वयं की रक्षा करना जाने बिना जगत् का उद्धार करना चाहते हैं। अपनी समस्याएँ सुलझाये बिना तुम जगत की समस्याओं को नहीं सुलझा सकते। अधिकांश कट्टर सुधारकों के साथ यही समस्या है। वे वस्तुत: अपने विषय में कुछ नहीं जानते, पर फिर भी दूसरों को सुधारना चाहते हैं। हमारा ऐसा विकृत स्वभाव है कि हम कर्म को इतना बढ़ाते जाते हैं कि अन्त में वह हमारी समस्त शक्ति और हमारे समग्र मन को सोख लेता है। हमें अपने कर्तव्यों को व्यर्थ ही बढ़ाना नहीं चाहिए। हमें कर्म के पीछे भागना नहीं चाहिए। हमें कुछ मात्रा में अवकाश भी चाहिए। हमें अपनी साधनाओं तथा भक्ति के कार्यों के लिये सदा समय निकालना चाहिए।

अतिश्रम आध्यात्मिक जीवन की एक बाधा है। बार-बार लोगों में कर्म को बढ़ाने की प्रवृत्ति दिखायी देती है, विशेषकर चंचलता और लक्ष्यहीन आवेगयुक्त पाश्चात्य देशों में। श्रीरामकृष्ण कुछ लोगों की कर्म-वृद्धि की, कर्तव्यों को बढ़ाने की वृत्ति को सदा निरुत्साहित किया करते थे। यह एक असन्तुलित मानसिकता है। यह मन की चंचलता का लक्षण है और पलायन का प्रयास है। यह प्रशंसनीय नहीं है। कोई भी मानव खाली समय का सदुपयोग किये बिना कुछ उपलब्धि नहीं कर सकता। अधिकांश अतिक्रियाशील लोग संतुलित नहीं होते तथा उनकी मन:स्थिति अस्वाभाविक होती है। मदोन्मत तथा बिच्छू के द्वारा दंशित बन्दर की क्रिया में कोई विशेषता नहीं है, और इन लोगों की क्रियाएँ भी इसी तरह की अर्ध-विक्षिप्त, असम्बद्ध, कर्म के लिये कर्म कर्ममात्र होती हैं। उसके बाद वे आकर शिकायत करते हैं : ''साधना के लिये मेरे पास समय कहाँ है? काश! मेरे पास समय होता।'' इत्यादि, इत्यादि। चंचलता उतनी ही बुरी है, जितना आलस्य। आवेग उतना ही बुरा है, जितनी जड़ता। अत: इस प्रकार की क्रियाशीलता स्तुत्य नहीं है। और इन मामलों में कर्तव्य केवल एक बहाना मात्र होता है। अधिकांशत: अपनी चंचलता और असंतुलन को छुपाने के लिये कर्तव्य का स्वयं निर्माण किया जाता है। हम अपनेआप से भागना चाहते हैं और अपने कर्तव्यों को बढ़ाते जाते हैं, जिससे अपने और दूसरों के लिये एक आसान बहाना मिल जाये। वास्तविक कर्तव्य बिल्कुल भिन्न वस्तु है। अनावश्यक सामाजिक उत्सव सर्वत्र सांसारिक लोगों के लिये होते हैं। उनमें बहुत-सी बुराईयाँ होती हैं। ऐसे अनावश्यक कर्म प्रारम्भ न करो, जो तुम्हारा और दूसरों का कोई भला न करें।

जिन्हें अपने दैहिक अस्तित्व को बनाये रखने के लिये कठोर संघर्ष करना पड़ता है, उनके लिये परमात्मा की ओर जाना कठिन है। इस संघर्ष के बावजूद ऐसा करने में समर्थ लोग बहुत कम हैं। सभी को खाली समय चाहिए, जिसका सदुपयोग किया जा सके। प्रार्थना, जप, ध्यान, गहन-अध्ययन तथा अन्य प्रकार की साधनाओं के द्वारा सदा परमात्मा का कार्य करने का प्रयत्न करो। जितना अधिक सम्भव हो, इनके लिये समय निकालने का प्रयत्न करो। कर्म को पूर्ण अनासक्ति के साथ करना चाहिए और उसे साध्य नहीं बल्कि साधन समझना चाहिए।

यंत्र भी कार्य करते हैं, और हमें कार्य करते समय यह सोचना चाहिए कि हम परमात्मा के हाथों में यंत्र हैं। तब हमारा समग्र दृष्टिकोण परिवर्तित हो जायेगा और हमारा कर्म भी साधना का, प्रभु की सेवा का अंग बन जाएगा। कर्म का लक्ष्य सदा परमात्मा की ओर होना चाहिए। हम चाहे कोई भी कर्म कर रहे हों, हमारा यही सजग दृष्टिकोण होना चाहिए। ऐसा करने में कुछ तरह के कर्मों को त्यागना होगा। श्रीमद्भागवत में कहा गया है :

नेह यत्कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते।
न तीर्थपदसेवायै जीवन्नपि मृतो हि स:।।

अर्थात् ''वह व्यक्ति जीवित होते हुए भी मृत है, इस संसार में जिसके कर्म, न धर्म के लिये, न वैराग्य के लिये और न भगवान् के पादसेवा के लिये होते हैं।''

कर्म और उपासना :

शरणागति के भाव से करते हुए भी प्रारम्भ में साधक को कर्म और उपासना में कुछ अन्तर प्रतीत हो सकता है। बाद में उसे लगता है कि वह अपने समस्त कर्तव्यों के बीच अपनी मानसिक उपासना कर सकता है। अन्त में उसके सभी कर्म उपासना बन जाते हैं। प्रारम्भ में हमें कर्मों के फलों को परमात्मा को समर्पित करके अपनी क्रियाओं को यथासम्भव निष्काम करना चाहिए। बाद में हम परमात्मा के हाथों के यंत्र के रूप में काम करना सीख जाते हैं। तब हमारा समग्र जीवन एक अविच्छिन्न उपासना बन जाता है।

कर्म और उपासना को साथ-साथ किया जाना चाहिए। दोनों चित्तशुद्धि करते हैं और उच्चतर चेतना के विकास में सहायक होते हैं। उन्हें एक दूसरे से अभिन्न द्विविध साधना समझना चाहिए।

ध्यान के नाम पर किसी भी स्त्री अथवा पुरुष को अपने कर्तव्यों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। सदा भगवत्-स्मरण करते हुए कर्म करने पर हमें इतने अधिक व्यक्तिगत ध्यान की आवश्यकता नहीं रहेगी। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि साधक किसी न किसी रूप में सदा परमात्मा के संस्पर्श में रहे। नित्य कर्मों में निरत रहते हुए भी मन ही मन मंत्र का जप करना इसके श्रेष्ठ उपायों में से एक है। जप के चक्र को निरंतर अपने भीतर चलने दो। जैसा स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने हमें निर्देश दिया है: सर्वदा शब्द प्रतीक की सहायता लो। अपने खाली समय को परमात्मा के नाम से भर दो।

जब कभी सेवा का अवसर आये, हमें उसे बिना हिचकिचाहट के स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा आत्मा संकुचित होती है। अधिक कर्म न खोजो, लेकिन अवसर आने पर सेवा करो। हमारा विकास देने से होता है, प्राप्त करने से नहीं। प्राप्तकर्ता को दाता-किसी न किसी वस्तु का दाता-होना चाहिए। कभी भी भिक्षु का स्थान न लो। अनासक्त, लेकिन पूरी तरह सहानुभूति सम्पन्न रहो। जहाँ भी सम्भव हो, सहायता प्रदान करो, लेकिन अनासक्त होकर, यह जानते हुए कि तुम कर्ता नहीं हो।

कभी-कभी हम यह सोचते हैं कि दूसरों की आध्यात्मिक सहायता करने का प्रयत्न करने से हम गुरु की भूमिका निभाने लगते हैं। यदि हममें बड़प्पन या अहंकार का भाव न रहे, तो ऐसा नहीं कहा जा सकता यह सेवा है और अवसर आने पर अथवा आवश्यकता पड़ने पर ऐसी सेवा करने से हमें संकुचित नहीं होना चाहिए।

कर्म को उपासना में परिणत करने के लिये सर्वप्रथम जप और ध्यान द्वारा आध्यात्मिक भाव का विकास करने का प्रयत्न करना चाहिए। जब कोई व्यक्ति किसी काम को हाथ में लेता है, तो वह सर्वदा भगवत्-स्मरण नहीं कर सकता। अत: वह कर्म के प्रारम्भ में, मध्य में और अन्त में परमात्मा का स्मरण करे, तथा यह सोचे कि वह यह कार्य परमात्मा की सेवा के रूप में उन्हें प्रसन्न करने के लिये कर रहा है। इस प्रथम कदम को बढ़ाने में सफल होने पर परमात्मा को कर्म के बीच में अधिक बार स्मरण किया जा सकता है।

मन में दो प्रवाह रहते हैं; एक ऊपरी और दूसरा नीचे का। सामान्यत: निम्न-प्रवाह व्यर्थ विचारों से भरा रहता है। अपने निर्दिष्ट कर्म करते हुए यह स्मरण रखने से कि भगवान के निमित्त कर्म किया जा रहा है, मन के इस निम्न या अन्तर्प्रवाह को भगवच्चिन्तन के लिये प्रशिक्षित किया जा सकता है। इससे कर्म यंत्रवत् नहीं बनता और मन भी सांसारिक विचारों में व्यस्त नहीं होता।

कभी-कभी परिस्थितियों के दबाव के कारण अधिक कर्म करना पड़ जाता है, लेकिन यदि मन समुचित रूप से प्रशिक्षित हो तो तीव्र क्रियाशीलता के बीच भी परमात्मा का चिंतन करना सम्भव होता है। इसके लिये नियमित प्रारम्भिक साधना आवश्यक है।

अच्छा, मन को यह निश्चय कैसे दिलाया जाये कि भगवान ही एकमात्र कर्ता है? पहले कर्म और

उपासना के द्वारा आत्मा की भी आत्मा-परमात्मा की सत्ता की अनुभूति करनी चाहिए और उसके बाद तुम उनकी इच्छा और उनकी शक्ति को तुम्हारे देह और मन तथा विश्व की सभी वस्तुओं के माध्यम से कार्य करते आसानी से अनुभव कर सकोगे।

इस तरह हम समर्पण के आदर्श पर पहुँचते हैं। इस शब्द का अर्थ है, अपनी आत्मा, मन और देह को परमात्मा को समर्पित करना, उनके कार्य सम्पादन के लिये उनके हाथों के यंत्र बनने की प्रार्थना करना और स्वयं की आत्मा की मुक्ति के लिये संघर्षरत रहने के साथ ही साथ सभी के कल्याण के लिये प्रयत्न करना। मानव में परमात्मा को प्रेम करना और उसकी सेवा करना, और इस तरह मानव जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करना ही मूल विचार होना चाहिए। हमारे निकट सम्पर्क में आने वाले की आवश्यकता के अनुसार सेवा शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक अथवा आध्यात्मिक हो सकती है।

जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, कर्म के साथ परमात्मा का चिंतन और सभी क्रियाओं को उन्हें समर्पित किया जाना चाहिए। परमात्मा तथा उन्हें प्राप्त करने के लक्ष्य को भूलकर मशीन की तरह कार्य करने वाले ही यंत्रवत् होते हैं। समस्या कर्म की मात्रा की इतनी नहीं है, जितनी उसे भगवत् समर्पित बुद्धि से न कर सकने की। आत्मसाक्षात्कार को निरंतर दृष्टिगोचर रखे बिना तथा क्षुद्र अहंकार को नष्ट और ईश्वरीय चेतना में विलीन किये बिना समर्पण सम्भव नहीं है। जो व्यक्ति यह कहता है कि समर्पण में सब कुछ त्यागकर दूसरों की सही अथवा गलत सभी आज्ञाओं का पालन करना पड़ता है, उसने शरणागति की भावना को नहीं समझा है। और यदि उसने समझा भी है, तो वह आदर्श को ठीक से व्यक्त नहीं कर पा रहा है। सच्ची शरणागति की साधना में सफल होने पर अहंकार का नाश नहीं होता, बल्कि वह रूपान्तरित हो जाता है। व्यक्तिगत चेतना परमात्मचेतना के साथ तथा व्यक्तिगत इच्छा, भगवदिच्छा के साथ एकाकार हो जाती है। यहाँ तक कि व्यक्ति की देह भी विराट देह का अंग प्रतीत होती है। ऐसा व्यक्ति कभी यंत्रवत् नहीं हो सकता। इसके विपरीत वह अहं-केन्द्रित जीवन के बदले परमात्म-केन्द्रित जीवन यापन करता है।

तुम जो भी कार्य करो, सोचो कि वह सारा कार्य तुम तुम्हारे और सभी के भीतर विराजित परमात्मा की सेवा के रूप में कर रहे हो। गीता के अठारहवें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि स्वकर्म से परमात्मा की आराधना करने से आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त होती है। कोई भी सत्कार्य चाहे वह कितना ही तुच्छ क्यों न हो, भगवत्सेवा के रूप में लिया जा सकता है और उसे अनासक्त होकर किया जा सकता है।

तीव्रता की आवश्यकता :

तीन प्रकार की क्रियाएँ होती हैं : लक्ष्यहीन अचेतन क्रिया; निश्चित लक्ष्ययुक्त सचेतन क्रिया और सामान्य चेतना के साथ उच्चतर चेतनायुक्त क्रिया। और तीसरे प्रकार की क्रिया को प्राप्त करने तक हमें रुकना नहीं चाहिए। हमें उच्चतर चेतना के साथ सम्पर्क विच्छेद किये बिना कर्म करना सीखना चाहिए। इसमें कोई नयी कार्यक्षमता विकसित नहीं होती, पर पुराने कार्य को नयी और श्रेष्ठतर दिशा प्रदान की जाती है। बाहर से कोई नयी बात नहीं आती, पर एक नयी आन्तरिक चेतना का उदय होता है, जो हमारा नैसर्गिक स्वभाव है।

तीव्र आध्यात्मिक प्रयास के द्वारा हम मन में एक अन्तर्प्रवाह का निर्माण कर सकते हैं, जो बाकी मन के कर्म में लगे रहते हुए भी परमात्मा की ओर प्रवाहित होता रहे। इस तरह मन के दो प्रवाह हो जाते हैं। मन का ऐसा सचेतन विभाजन सम्भव है, और आध्यात्मिक जीवन की अविच्छिन्नता के लिये आवश्यक है। सतत् साधना के द्वारा हम मन के अधिकांश भाग को नियंत्रित कर सकेंगे और जिस मात्रा में हम ऐसा कर पाएँगे, उतना ही सफलतापूर्वक मन को दो भागों में विभक्त कर सकेंगे और अपने कर्तव्य-कर्मो के बीच भगवत्-सान्निध्य की अधिक दक्षता पूर्वक साधना कर सकेंगे। सामान्यत: यह अन्तर्प्रवाह नाना प्रकार की फालतू बातों का अचेतन

प्रवाह होता है। ध्यान के समय हमें बाह्य प्रवाह और अन्तर्प्रवाह को एक करना चाहिए, और उसके बाद कर्म के समय अन्तर्प्रवाह को किसी उच्चतर दिशा में, किसी उच्चतर क्रियात्मक मार्ग में यथासम्भव प्रवाहित करना चाहिए। हमें निम्न प्रवाह की विषयवस्तु को परिवर्तित करना चाहिए। हमें उन्हें चेतना स्तर पर लाना चाहिए। ऐसा करने पर मन का बहुत-सा भाग हमारे नियंत्रण में आ जाता है, और साथ ही हमारा मन पूर्ण सजग और तीव्रतर हो जाता है। साधक के जीवन की यह एक महत्त्वपूर्ण साधना है। आध्यात्मिक जीवन का अर्थ है, अधिकाधिक मानसिक सजगता, अर्थात् उच्चतर मन का विकास, जिससे अन्त में अतिचेतन अवस्था की प्राप्ति होती है।

अपने कर्म करते समय मन और उसकी गतिविधियों का निष्पक्ष रूप से थोड़ा अध्ययन करो। उसका निरीक्षण करो और देखो कि किस प्रकार वह नाना प्रकार की निरर्थक और कभी-कभी हानिकारक बातों में भी व्यस्त रहता है। तब तुम मन का बहुत हद तक सचेतन नियंत्रण कर सकोगे, और दीर्घकालव्यापी निरंतर साधना द्वारा तुम पाओगे कि मस्तिष्क के स्नायु मानो हल्के हो गये हैं और उनकी अधिकांश बाधा नष्ट हो गयी है। अतिचेतन अवस्था के लक्ष्य की प्राप्ति के लिये शारीरिक और मनोवैज्ञानिक, दोनों ही बाधाओं को यथासम्भव प्रभावहीन करना होगा।

दूसरों के साथ आदान-प्रदान :

हम अपने लिये कुछ हासिल करने का प्रयत्न करते हैं और उसके बाद दूसरों को बाँटते हैं। प्रारम्भ में हम अपने स्वयं के आन्तरिक विकास को अधिक महत्त्व भले ही दें, पर दूसरों के हित को दृष्टि से ओझल नहीं होने देना चाहिए। सर्वप्रथम हमारी कुछ तैयारी होनी चाहिए, अन्यथा हम दूसरों की सेवा भी अच्छी तरह नहीं कर सकते। पहले स्वयं दिव्य बनने का प्रयत्न करें और उसके बाद दूसरों को दिव्य बनने में सहायता करें। लेकिन ये दोनों साथ-साथ होने चाहिए। अपनी आध्यात्मिक प्रगति को कुछ हद तक आगे बढाने पर ही दूसरों के लिये सुचारू रूप से कार्य किया जा सकता है। जब स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, ''मैं अपनी मुक्ति की परवाह नहीं करता'', उसके पहले उन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया था। उच्चतम आध्यात्मिक स्थिति प्राप्त कर उन्होंने दूसरों के लिये कर्म किया था।

यदि प्रभु हमें उच्चतर मन:स्थिति में रखें और उनकी सेवा करने की शक्ति प्रदान करें तो हमें उसे स्वीकार करना चाहिए। ऐसी सेवा हमें लक्ष्य के निकट ले जाती है। कभी-कभी अपने लिये ही नहीं, बल्कि दूसरों के लिये भी उच्चतर मनोभूमि पर बने रहना आवश्यक होता है। यह आध्यात्मिक साधना को और अधिक प्रेरणा प्रदान करता है। तुम्हारे पास यदि कुछ न हो, तो तुम क्या दोगे? अत: अपनी लगन के कारण ही नहीं, बल्कि आवश्यकता के कारण हमें अधिक उपार्जन करना पड़ता है, क्योंकि अधिक का वितरण करना है।

हम सभी के लिये यही आदर्श है : अपने तथा दूसरों के कल्याण का प्रयत्न करना और सच पूछो तो दोनों को पृथक नहीं किया जा सकता। सेवा द्वारा दोनों में अधिकाधिक एकत्व का बोध होने लगता है। जिस मात्रा में अहं के भाव को कम महत्त्व दिया जाता है, उसी मात्रा में एकत्व का भाव अधिकाधिक प्रकट होता है और अन्त में हम सभी स्त्री-पुरुषों में, सारे बाह्य तथा अन्तर्जगत में परमात्मा की अनुभूति करने लगते हैं। *(क्रमश:)*

जो अपनी उन्नति की उपेक्षा कर दूसरे लोगों की उन्नति की चिन्ता में भयंकर बखेड़े मोल लेता है, वह दूसरे की उन्नति का कारण जरूर बन जाता है, पर वह स्वयं कोरा ही रह जाता है।

- पू. तनसिंहजी

गतांक से आगे

पूज्य श्री तनसिंहजी (के सम्बन्ध में)

''जो कुछ देखा, समझा व अनुभव किया''

– चैनसिंह बैठवास

स्वतंत्र भारत में राजपूत जाति का जितना उत्पीड़न हुआ है, इनके साथ जितना जघन्य अपराध व घोर अन्याय हुआ है, उतना शायद ही किसी देश में किसी जाति या वर्ग के साथ हुआ हो। पूर्व में शासक रही राजपूत जाति को तत्कालीन सरकार अपने लिये खतरा मान रही थी, सबसे बड़ा अपना दुश्मन समझ रही थी। इस कौम को अपने रास्ते का रोड़ा व काँटा मान बैठी, इसलिये हर क्षेत्र में इन्हें तोड़ने के लिये, इन्हें विफल करने के लिये इस कौम के विरुद्ध साजिश रची जाने लगी। इस साजिश में बलि का बकरा बना सामान्य राजपूत वर्ग।

सामान्य राजपूत जिसके आजीविका का साधन उनकी वह पुश्तैनी भूमि थी जिस पर वह मेहनत, मजदूरी करके अपने परिवार का भरण-पोषण करता था। राजपूत समाज को आर्थिक दृष्टि से कमजोर करने के लिये सरकार ने भूमि सुधार के नाम पर उनसे उनकी पुश्तैनी भूमि छीनने के लिये समय-समय पर कई कानून बनाये। घर में विधवा औरत, बच्चे छोटे, वह उस भूमि को जोत नहीं सकती। घर में कमाने वाला बीमार है, अपाहिज है, बाल-बच्चे छोटे हैं, और कोई बड़ा जमीन जोतने वाला घर में नहीं है तो वे भी उस जमीन को जोत तो नहीं सकते पर उस जमीन के सहारे से ही अपने परिवार का पालन-पोषण करते थे और वह जमीन ही उनकी आजीविका का आधार थी। ऐसे लोगों की जमीन हड़पने के लिये सरकार ने नारा दिया कि ''जो जोते जमीन उसी की।'' और उनकी भूमि किसी ओर को देकर उन्हें तो नया भूस्वामी बना दिया पर जिन असहाय व्यक्तियों के लिये वह भूमि ही उनकी आजीविका थी, उनसे छीनकर उनकी आजीविका ही छीन ली। उन्हें भूमिहीन बनाकर बेसहारा कर डाला। सरकार का इतने से भी जी भरा नहीं तो सिलिंग एक्ट लागू कर अन्य अनेक लोगों से भी जमीन छीन ली। संविधान में सम्पत्ति का जो मौलिक अधिकार था उसमें संशोधन कर इसे इसलिये समाप्त कर दिया गया कि कोई न्यायालय की शरण लेकर अपनी सम्पत्ति को बचाने न आ जाय। एक राजपूत के पास दस बीघा, पचास बीघा, सौ बीघा या जो भी जमीन थी, वह उनकी व्यक्तिगत निजी पैतृक सम्पत्ति थी। दूसरी ओर पूंजीपति जिसके पास मिल, कारखाना, शोरूम आदि भी उस पूंजीपति की व्यक्तिगत सम्पत्ति थी। सरकार ने राजपूत की पैतृक सम्पत्ति के लिये तो नारा दिया-''जमीन किसकी? जो जोते उसकी'' सरकार को पूंजीपति के लिये भी यह नारा देना था कि ''मिल, कारखाना किसका? जो चलाये उनका'', पर सरकार ने उनके लिये यह नारा नहीं दिया इसलिये मिलें या कारखाना चलाने वाले मजदूरों को क्या मिला? कुछ भी नहीं मिला। उनका मालिक तो पूंजीपति ही बना रहा। आजाद भारत में यह अन्याय नहीं तो और क्या है? राजपूतों को जमीन का मुआवजा देने की घोषणा कर मुआवजा के नाम पर भी ठगी की गई। सम्पत्ति की मूल कीमत का पाँच प्रतिशत भी उन्हें नहीं मिला। मामूली कीमत देकर एक राजपूत को गरीबी की ओर धकेल दिया गया। दूसरी तरफ करोड़ों, अरबों के मालिकों को छेड़ा तक नहीं। इस पर पूज्य श्री तनसिंहजी ने पूंजीपति सेठों को सम्बोधित करते कहा-

''तुम्हारा सदावृत छोड़कर मैं आगे पढने गया। पढाई छोड़कर जब धंधा शुरू किया, उस समय भारतवर्ष में एक आर्थिक क्रान्ति आ रही थी। सबसे पहले उस क्रान्ति के शिकार बेचारे राजपूत ही हुए। उनका संचित और अर्जित सारा धन जिसे तुम व्यक्तिगत सम्पत्ति कहते हो, कानून की नोंक पर चढकर समाप्त होने लगा। राजपूतों ने हल्ला मचाना शुरू किया, वे जेलों में गये। राजस्थान की सारी जेलें भर गई, राजपूत हारे नहीं। तुमसे

सेठजी! बड़ी उम्मीद थी, क्योंकि तुम्हारे पास भी व्यक्तिगत सम्पत्ति थी, तुम तो बड़े होशियार निकले। कोरे और सूखे हमें टरका दिया, पर राजधानी में हिन्दुस्तान के सबसे बड़े आदमी से मिलने गये। उस समय हम पर तुमने क्या उपकार किया जानते हो? तुमने राजपूतों को अपनी धर्मशाला में ठहराया। उनके भोजन के दाम वसूल नहीं किये और इसी सेवा से तुमने अपनी सम्पत्ति की रक्षा करना चाहा। पर सेठ! किसकी हिम्मत है, जो तुम्हारी सम्पत्ति को टेडी नजर से देखे।''

राजपूतों के पास व्यक्तिगत सम्पत्ति के नाम पर कुछ बीघा जमीन थी जिसे सरकार हड़पने जा रही थी तो राजपूतों ने इसका विरोध किया। इसके विरोध में आम राजपूत सड़कों पर उतर आये। पुलिस की लाठियाँ और लातें खा रहे थे, जेलों में बंद हो रहे थे, अपमानित हो दर-दर भटक रहे थे तब तो ये पूंजीपति चुपचाप बैठे रहे मानो उनकी जुबान पर ताला जड़ा हो। उनसे उम्मीद थी कि वे इस मुसीबत में मदद करेंगे पर वे मदद को आगे नहीं आये। पर जब राजपूतों की कुछ बीघा भूमि जो उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति थी, उनसे छिन चुकी तो पूंजीपतियों को भय सताने लगा कि कहीं अब हमारी बारी न आ जाय इसलिये उन्होंने नारा लगाया कि- ''व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा होनी चाहिए।'' इस पर पूज्य श्री तनसिंहजी ने पूंजीपतियों को सम्बोधित करके कहा- ''आखिर राजपूत जब हारे तब तुम्हें भय हुआ कि अब तुम्हारी बारी आयेगी। इसलिये तुमने बड़ी सूझबूझ से ठीक समय नया कदम उठाया। तुमने एक नई संस्था को जन्म दिया और नारा लगाया, ''व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा होनी चाहिए।'' बहुत बाद में तुम्हें सहानुभूति का यह नाटक रचने की सूझी। अब हमारे पास ऐसी कौनसी व्यक्तिगत सम्पत्ति है, जिसकी रक्षा तुम करना चाहते हो। सेठजी! सही बताना, तुम्हारे व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा का वास्तविक अर्थ क्या है? क्या तुम खुले आम यह कहने का साहस कर सकते हो कि तुम मेरे राजाजी का राज्य वापिस दिला दोगे? क्योंकि वह उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति थी। क्या तुम खुले आम यह कह सकते हो कि तुम मेरे बड़े भाईयों की जागीर दिला सकते हो, जिसके कारण ही वे आज तक मुझे छुट भइया कहते आये हैं। क्या तुम राजपूतों की व्यक्तिगत सम्पत्ति उनकी दस बीघा जमीन वापिस दिला सकते हो? नहीं, वह तुम किसी हालत में नहीं दिला सकते। तुम तो केवल अपने सेठ भाईयों की दुकानों और मिलों की रक्षा करना चाहते हो। हमें कोई एतराज नहीं। राजपूत बड़े उदार होते हैं। दुनिया सारी धनी बनी रहे, इसमें एतराज नहीं है। तुम तुम्हारी मिलें अपने पास रखो, हमें नहीं चाहिए। मुझे तो सिर्फ इतना ही एतराज है कि तुम ठग-विद्या मत चलाओ। धर्म का नारा और धर्म की ओट मत लो, धर्म का नाम लेकर तो भिखारी भीख मांगा करते हैं- ''दे दो बाबू! तुम्हें धर्म होगा।'' पर तुम भिखारियों के पास इसे भी नहीं रखना चाहते। क्या कोई पुराना बैर है तुम्हारा भिखारियों से?''

सरकार ने अपनी स्थिति मजबूत करने के लिये राजपूत कौम का पेट काटकर अन्य जातियाँ को लुभाना शुरू किया। जो राजपूत कभी भूमिधारक था, भूस्वामी था उनकी भूमि छीनकर उन्हें तो भूमिहीन कर गरीबी में धकेल दिया और जिनको उनकी भूमि देकर भूस्वामी बनाया, उन्हें प्रलोभन के तौर पर नौकरियों में, पदोन्नति में, शिक्षा में आरक्षण दिया जाने लगा। इसके अलावा उन्हें आर्थिक दृष्टि से और अधिक सबल बनाने के लिये केन्द्रीय सरकार व राज्य सरकारें उनके हित सम्पादन में अनेक कानून बना चुकी हैं और नित नये बनते जा रहे हैं और विभिन्न प्रकार की सहूलियतें, छात्रवृत्तियाँ, फीस में रियायतें इत्यादि दी जा रही हैं। दूसरी ओर जिनको भूमि से वंचित कर गरीबी में धकेल दिया, उनके लिये न तो आरक्षण है, न सहयोग, न सहायता के लिये कोई योजना ही और न किसी प्रकार की सहूलियत की। एक तरफ तो सरकार समानता, सबके उत्थान व न्याय की बात करती है और दूसरी तरफ राजपूत समाज के साथ

(शेष पृष्ठ 28 पर)

विचार-सरिता

(चतुर्त्रिंशत् लहरी)

– विचारक

विचार करें-मनुष्य जिस लोक में रहता है उस लोक का नाम ही जब मृत्युलोक है तो उस लोक में जीने की इच्छा रखना कौनसी समझदारी है। मृत्युलोक में रहने वालों को भी यदि मृत्यु की विस्मृति हो गई है तो यह कितनी हास्यास्पद बात होगी। मरने वालों के गाँव में रहने का विचार किया है, यह बहुत बड़ी त्रासदी है। जितना बड़ा गाँव या शहर, उतने ही ज्यादा रोजाना मरने वालों की संख्या है। हम रोजाना नहीं तो पाँच-सात दिनों में एक मुर्दे को जरूर श्मशान की ओर ले जाते हुए देख ही लेते हैं और कई बार तो उस जनाजे में शामिल भी होते हैं। चिता पर धू-धू जलती दस देह की परिणति नजरों से देखने के बाद भी स्वयं के देह की मृत्यु के बारे में विचार क्यों नहीं आता कि इस मुसाफिरी में अगला नम्बर मेरा भी हो सकता है।

देह अभिमान के कारण पद-प्रतिष्ठा, सम्मान आदि जो भी है उस सबका अन्तिम परिणाम तो देहनाश ही है। जिस मकान को हमने अपना माना वहाँ तो लोग देह की मृत्यु के बाद घंटा भर भी रखना नहीं चाहते। आखिरी निवास तो श्मशान ही है जहाँ जाने के बाद उसे वहाँ से कोई निकालकर नहीं ले जाता। जैन मुनी तरुणसागर जी के पास एक धनाढ्य सेठ पहुँचा जिसने बहुत सुन्दर मकान बनाया। वह अपने मकान का कोई सुन्दर सा नाम मुनीवर से उद्घोषित करवाना चाहता था। तरुणसागरजी ने कहा-तुम गलत आदमी से सम्पर्क कर रहे हो। किसी अन्य के पास जाओ ताकि वह आपके मकान का नामकरण कर सके। सेठ के ज्यादा आग्रह करने पर मुनिवर ने कहा-मैं जो नाम तुम्हें बताऊँगा वह तम्हें पसन्द नहीं आएगा अत: इस मामले में किसी अन्य से सम्पर्क करते तो अच्छा रहता। वह सेठ उनका परम भक्त था उसने कहा-महाराजजी मुझे तो आपके मुखारविंद से ही मकान का नामकरण करवाना है, अन्य से नहीं। तब मुनिवर ने कहा-अच्छा आपका इतना ही आग्रह है तो अपने मकान का नाम 'मरघट' रख दो। सेठ बोला महाराज यह क्या नाम हुआ, 'मरघट' में तो मुर्दे जलाए जाते हैं, मैंने तो मकान रहने के लिये बनवाया है मुर्दों के लिये थोड़े ही बनवाया है। सन्त बोले-देखो जहाँ मुर्दे जलाए जाते हैं वह तो होता है, श्मशान तथा जहाँ लोग मरते हैं या मरने के लिये आते हैं वह होता है 'मरघट' आपने भी जो मकान बनाया है वहाँ रहने वाले रहेंगे नहीं, एक दिन वे अवश्य मरेंगे अत: मेरे हिसाब से तो यही नाम उपयुक्त रहेगा ताकि रहने वालों को सदैव मौत याद रहे।

जब आपको रेल की यात्रा करनी होती है तो जाने के लिये टिकिट लेना पड़ता है, पर पंक्ति बड़ी लम्बी है तो आपको बड़ी उतावली होती है कि किसी तरह टिकिट मिल जाए और मैं यहाँ से रेल द्वारा चल पड़ूं। जान पहिचान द्वारा या एजेण्ट के माध्यम से किसी तरह टिकिट के लिये आप प्रयत्न करके जाना चाहते हो कि कहीं यह गाड़ी छूट न जाए। इस लौकिक यात्रा में तो कई बार परिस्थितिवश यात्रा स्थगित भी करनी पड़ जाती है पर देह छूटने के बाद की यात्रा का टिकिट रिजर्व कौन करवाता है? अर्थात् ऐसे विरले लोग ही होते हैं जो मृत्यु आने से पूर्व मृत्यु की तैयारी करके मृत्यु का इन्तजार करते हैं। क्योंकि मृत्यु एक शाश्वत सत्य है, जिसे टाला नहीं जा सकता।

आदमी बहुत चालाक है। प्रथम तो मृत्यु का विचार आता ही नहीं और आता भी है तो उस विचार से दूर भागता है। सोचता है मैं क्यों मरूंगा, मरे मेरा कोई दुश्मन। मैं तो अभी बालक हूँ, युवान हूँ। मेरे बाल-बच्चे छोटे हैं, अभी नई-नई पुत्र-वधू आई है उसकी गोद में दो-चार पोते आ जायें, फिर कोई सोचेंगे तथा जो होगा देखा जाएगा। मृत्यु जैसे गन्दे विचार को

आदमी ज्यादा देर टिकने नहीं देता, वह इस ख्याल के आते ही तत्काल उससे मुक्ति पाकर रजोप्रवृति में लगकर भविष्य का ताना-बाना बुनना शुरू कर देता है। विचारों में ऐसे आकाश-कुसुम खिलाता है कि जिसमें खुशबू और महक तथा सुन्दरता का खजाना हो। उस सब्ज बाग में रस का भण्डार है, हरियाली और प्रसन्नता का भाव है। उस विचार शृंखला में मनमोहक अट्टालिकाओं का विशाल समूह है। जहाँ रूप सुन्दरियों के पायल की झनकार है। अप्सराओं के नृत्य की धमक है और शहनाइयों की गूंज व मदिरा की महक है।

आदमी बहुत कायर है। वह मौत से घबराता है। मौत से सामना करने की उसमें हिम्मत ही कहाँ है। मृत्यु से बचने के लिये वह सब कुछ दाँव पर लगाने को तैयार है। यह सत्य है कि भरसक प्रयत्न करने के बाद भी आज तक कोई मौत से बच नहीं पाया। संसार में सबसे बड़ा सत्य ही यही है कि मौत को कोई ठुकरा नहीं सकता फिर भी जिस हेतु यह जीवन मिला है, वह पुनीत कार्य तो हम करते नहीं और जगत के इस भूलभूलैया में प्रारब्धरूपी पूंजी को नश्वर पदार्थों के संचय में खर्च करके यहाँ से रीते ही चले जाते हैं।

जिसे मृत्यु याद नहीं वह सही रूप से परमात्मा का भजन भी नहीं कर सकता। असल में मृत्यु की याद ही सही भजन है। कर्मयोगी राजा परीक्षित को जब शमीक ऋषि द्वारा मृत्यु की याद दिलाई गई तो उसे चेत आई, वह होश में आया और उसने तत्काल अपने स्वरूप के साक्षात्कार हेतु उपाय ढूंढने का प्रयास प्रारम्भ किया। राज-पाट, घर, पत्नी, परिवार सब कुछ छोड़कर वह इस खोज में निकला कि मुझे सात दिन के भीतर-भीतर वह पाना है जिसे पाने के बाद शेष कुछ पाना रह ही नहीं जाता। यह देह न रहे, इसकी चिंता नहीं पर देह के रहते मैं वह पा जाँऊ जिसे पाकर खोना न पड़े। परीक्षित को लगा कि आज तक जो कुछ इस धरा पर पाया वह तो अब लुटने वाला है, छूटने वाला है। मैं जीते जी कंगाल होकर मरना नहीं चाहता। मैं जीते जी निहाल होकर मरना चाहता हूँ। अत: राजा परीक्षित को मृत्यु ने झकझोरा। राजा को मृत्यु की स्मृति होते ही वह जग गया। उसके जीवन में एक क्रान्ति घटित हुई। परीक्षित को जीवन जीने की कला हाथ लग गई और सात ही दिन में उसने शुकदेव जी महाराज से वह पाया जो उसी भागवत को सुनने वाले अन्य अठयासी हजार ऋषि नहीं पा सके। कारण स्पष्ट था कि परीक्षित को सामने खड़ी मौत दिख रही थी और अन्य ऋषिगण मौत से बेखबर थे।

सज्जनों! सबसे बड़ा सत्य जो मृत्यु है उसे सदैव याद रखो। विचार करें-राजा परीक्षित को यह तो भरोसा था कि अभी मेरे पास जिन्दगी के सात रोज शेष हैं पर आपके और हमारे जीवन की घड़ियाँ कब बन्द हो जाएगी इसका कोई ठिकाना ही नहीं है। यह श्वास जो बाहर गया है वह पुन: लौट आएगा इसका कोई भरोसा नहीं। यह तो परमात्मा की कृपा ही है कि बाहर गया हुआ प्राणवायु वापस लौट आता है। यदि न आए तो इस पर हमारा अधिकार ही नहीं कि यह हमारी आज्ञा में चले। ऐसी क्षणभंगुर जिन्दगी होते हुए भी यदि हम मृत्यु से बेखबर हैं तो यह बहुत बड़ी भूल है। इसी गफलत के कारण तो प्रभु का भजन नहीं हो रहा है।

एक बार एक सन्त के पास एक जिज्ञासु गया और पूछने लगा कि महाराज कृपा करके मुझे कोई ऐसा ज्ञान दीजिए जिससे मेरे जीवन में जागृति आ जाय और मैं सदैव परमात्मा के भजन में लीन रहूँ। सन्तजी कुछ कहते उससे पहले वह जिज्ञासु बोल पड़ा कि महाराज मैं आपके इस वैराग्य को नमन करता हूँ कि आप जगत के समस्त सुखों और भोगों से विरक्त होकर इस वीरान जंगल में कंद-मूल खाकर, झरनों का पानी पीकर बड़े सन्तोषप्रद जीवन का आनन्द ले रहे हो। क्या आपको जगत के पदार्थ व उनकी रमणीयता आकर्षित नहीं करती?

महाराज ने कहा-जगत के भोगों में कौनसा आनंद है, यह तो मैं नहीं जानता पर तुम्हें देखकर मैं यह अवश्य जान गया हूँ कि आज से सातवें दिन तुम्हारी मृत्यु है।

(शेष पृष्ठ 26 पर)

अपने आपको टटोला

– अजीतसिंह कुणघेर

जैसे अर्जुन को चिड़िया की बांई आँख ही दिखाई दे रही थी, भक्त ध्रुव को भगवान की गोद ही दिखाई दे रही थी, हनुमान जी को हर वस्तु में श्रीराम ही नजर आ रहे थे, पूज्य तनसिंहजी को 1946 में उस समय की समाज वेदना के दर्शन हो रहे थे, उसी प्रकार सभी स्वयंसेवकों को श्री क्षत्रिय युवक संघ की शंख ध्वनि तथा सहगायनों में समाई समाज वेदना का संदेश ही सुनाई देना चाहिए।

11 मई से 21 मई तक बाड़मेर में आयोजित संघ के उच्च प्रशिक्षण शिविर में कई भाग्यशाली स्वयंसेवक सम्मिलित हो सके। कई सम्मिलित नहीं हो सके क्योंकि सांसारिक सुखों को प्राधान्य दिया। कई इच्छुक थे फिर भी कारणवश सम्मिलित नहीं हो सके, उनके भाग्य में इन्तजार ही लिखा था। याद आ रहे हैं शिविर में संघप्रमुखश्री द्वारा उद्बोधित प्रात:कालीन प्रेरणादायी प्रवचन, स्वागत और विदाई प्रवचन जिनमें सदियों से जड़ जमाकर बैठी हमारी जड़ता से जगाने और जाग्रत होकर हमारे जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने से सम्बन्धित विचारों को मोतियों के रूप में पिरोया गया था।

सादगीपूर्ण भोजन-कर पात्र में, सड़क पर रात्रि शयन-प्रकृति की गोद में, ऐसी गर्मी और लू जिसमें विद्युत उपकरण भी हार मान जाएँ लेकिन छप्परों के नीचे होने वाले कार्यक्रमों में स्वयंसेवकों के लिये वह गर्मी भी बाधक नहीं बन सकी। सभी के चेहरों पर खुशियों की चमक। सारे संसार से अलिप्त, न अखबार-न टी.वी.-न मोबाइल, किसी प्रकार का कोई तनाव नहीं। सांसारिक दृष्टिकोण से मानी जाने वाली विपरीत परिस्थितियों में भी आनन्द से भरा-पूरा जीवन जी रहे थे शिविर में।

ईश्वरीय अवतारों में वेदना दौड़ रही थी- ***परित्राणाय साधूनाम विनाशाय च दुष्कृताम,*** ऋषियों-मुनियों के यज्ञों और साधना में जीवन लक्ष्य को प्राप्त करने की वेदना प्रसारित थी, महान् वीरों और वीरांगनाओं के रक्त की एक-एक बूंद में वेदना महक रही थी कर्तव्य पालन की, कुरुक्षेत्र में भगवान कृष्ण के एक-एक श्लोक में वेदना मुखरित थी- ***श्रेयान स्वधर्मो विगुण:,*** वही वेदना पू. तनसिंहजी द्वारा स्थापित श्री क्षत्रिय युवक संघ के उद्देश्य में समाहित है। संघ के प्रवचनों के हर शब्द में, घटप्रमुख के हर आदेश में, पथक शिक्षक के हर निर्देश में, सहगीतों की एक-एक कड़ी में अपना कर्तव्य पालन कर अपने जीवन को सार्थक बनाने की वेदना की झलक प्रकटित हो रही है।

ग्यारह दिनों तक चले उच्च प्रशिक्षण शिविर के इस अनुष्ठान के हर कार्यक्रम की जीवन्त प्रेरणादायी वेदना ने मुझे, मेरे आलस्य को झकझोरा। प्रात: चार बजे शंख ध्वनि हमारी निद्रा को त्यागने का संदेश लेकर आती है। हम गाते हैं -

संघ ने शंख बजाया भैया, सत्यजयी अब होगा रे।
क्षात्रधर्म की दिव्यप्रभा से, जग उजियारा होगा रे।।

संघ की वेदना जैसे मुझे पूछ रही थी-कब तक शंख ध्वनि के इन्तजार में सोता रहेगा? कब तक इन सहगीतों को केवल गाता रहेगा? शंखनाद की ध्वनि तेरे जीवन की ध्वनि क्यों नहीं बन पाई? सहगीतों के बोल तेरे जीवन में साकार क्यों नहीं होते? शिविर में जाग्रति के लिये होने वाली शंख ध्वनि मेरे जीवन भर की जाग्रति बन जाय यह उमंग उठी और जैसे मुझे झकझोर दिया गया हो। शिविर के हर खेल, शिक्षकों के हर आदेश, प्रवचनों के बोल, सहगीतों के संदेश में समाज का आदर्श रूप मुझे दिखाई देने लगा।

मैं अपने जीवन को टटोलूं तो मेरा जीवन जैसे अनुशासन, संस्कार और व्यवस्था विहीन सा रहा था। पर जब से संघ का सम्पर्क मिला, शिविरों में आने लगा तब से लगा तेरा जीवन केवल आहार, निद्रा, भय और मैथुन के लिये ही नहीं है। संघ का हर कार्यक्रम सार्थक जीवन

उद्देश्य की राह हेतु रचा-बसा है। जो यहाँ समझाया जाता है उससे हमारा मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार अमृतमयी जीवन की राह दिखा रहे हैं। तो क्यों न मैं गहरी जड़ जमायी अपनी जड़ता को उखाड़ फेंकूं और अमृतमयी जीवन की राह पकड़ लूँ। हाँ, अब तो संघ का हर शिविर मेरे लिये पथ प्रदर्शक बन रहा है। मेरी जड़ता का उपचार करने के लिये जड़ी-बूंटी का कार्य कर रहा है। समाज-सेवा और समाज को जाग्रत करने की उमंग बलवती बन रही है। पर याद करूं, सहगीत क्या कहता है,-

अपने आपको उठाना, सारे जग को उठाना है।

मैं जैसे-जैसे गहराई में जाकर संघ शिक्षण के सम्बन्ध में अपने आपको टटोलता हूँ तो मुझे लगता है श्री क्षत्रिय युवक संघ समाज, राष्ट्र और विश्व में रहने वाले हर क्षत्रिय को आसक्ति रहित होकर कर्तव्य पालन करने का संदेश दे रहा है जो ईश्वर मिलन की राह है। मुझे अपने आपको संयमित बनाने, न्यूनतम आवश्यकताओं में जीवन जीने की शिक्षा संघ ने शिविरों के माध्यम से दी है। आवश्यकता से अधिक किसी भी वस्तु का उपयोग करना भी एक प्रकार का व्यभिचार ही है। संघ समाज चरित्र को माध्यम बनाकर राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण कर रहा है। संघ तो व्यष्टि से समष्टि और समष्टि से परमेष्टि की ओर ले जाने वाली साधना है। मेरी जड़ता को दूर कर संघ मुझे सच्चा क्षत्रिय बनाने की राह दिखा रहा है। यह पाकर मेरा मन मयूर नाच उठे, यह स्वाभाविक है।

सभी शास्त्रों, सभी वेदों, सभी उपनिषदों, सभी धर्मग्रन्थों का सार स्वरूप ज्ञान संघ के साहित्य में, संघ के प्रवचनों में, संघप्रमुखश्री के उद्‌बोधनों में हमें मिलता है। इन्हीं के आधार पर जीवन की हर गतिविधि परमेष्टि के मार्ग पर गतिमान होती है। मैं इस राह का राहगीर बना हूँ, यह संघ की ही कृपा मानता हूँ।

हिंदवाणो सूरज

- डॉ. अंजु

गड़-गड़ बिजळी चमकी,
थर-थर-थर धरती धूजी।
ओ, बरस पड़्यो हो दावानल,
राणा परताप री आँख्यां सूं।
हळदीघाटी री पावन भौम लाल हुई,
बैर्‌यां रा, कुळ द्रोह्‌यां रा अर
मर्‌या मानखां रा रगत सूं।
राणा रो जद चमक्यो भालो
आभै में चलतो सूरज थमग्यो।
दिल्ली में बैठ्‌या अकबर रो,
सिंघासन जद डोल उठ्‌यो।
भायां ने भायां सूं लड़ावणवाळा को,
काचो काळजो काँप गयो।
रण भेर्‌यां जद गूँज उठी,
पंखिड़ा रूंखड़ां पर रह्‌ग्या बैठ्‌या,
राणा रो बिरद गाबा ने।
धन-धन हिंदवाणो सूरज,
धन्य है बा क्षात्र-कूँख
ज्यो जणी हिंदवाणो सूरज।
बो लाज बचाई क्षात्र-धरम री,
बो राह दिखाई मातृ-प्रेम री।
बो जोत जगाई सद्‌भाव की,
अर आग लगाई स्वाभिमान की।
वो राणो पुरखो महाण
तेज, त्याग, तपस्या न अमर करग्यो।
बो आज भी जगावे है म्हानें
साँसां में सौरभ इसी भरग्यो।
बो आज भी चमके है आँख्यां में,
तेज इस्यो नयणा में भरग्यो।
इ बिस्व इतिहास में
नींव नई एक धरग्यो।
वो ज्योति-पुंज बण ज्वाल-पुंज,
रजपूती रगत में जोश एक नयो भरग्यो।

*

रावत्रियांजी

– मूलसिंह चांदेसरा

राणा रूपसी (रूपड़ोजी) मण्डोर के शासक नाहड़राव के उत्तराधिकारी थे। वे अपने पुत्र हमीर के लिये राज्य को सुव्यवस्थित व सुदृढ़ बनाना तथा सैन्य शक्ति को बढाना चाहते थे। परन्तु नागौर, अजमेर आदि के मुगलों द्वारा आक्रमण तथा अन्य चुनौतियों से सामना करते, ऐसा नहीं कर पा रहे थे। इस स्थिति में ईन्दा पड़िहारों ने राणा रूपसी लूलावत पड़िहार को राय दी कि वे अपनी पुत्री बाई ज्ञानवती का विवाह चुण्डा राठौड़ से कर दें तथा अपना राज्य तथा मण्डोर का दुर्ग भी कन्यादान में चुण्डा राठौड़ को सौंप दें। तत्कालीन परिस्थिति में यह सलाह उपयुक्त मानकर राणा रूपसी ने अपनी पुत्री का विवाह चुण्डा राठौड़ से कर दिया और अपना राज-पाट और दुर्ग उन्हें दे दिया। मण्डोर के राजसिंहासन पर बैठते ही अपने पूर्व में किए गये वादे के अनुसार चुण्डा राठौड़ ने ईन्दा-पड़िहारों को 84 गाँवों की जागीरें प्रदान कर अपने वचन का पालन किया, इसे चुण्डा की साला कटारी कहा गया।

राणा रूपसी ने राज-पाट और दुर्ग चुण्डा राठौड़ को सौंपने के बाद अब वहाँ निवास करना धर्मसंगत नहीं माना। क्योंकि चाहे कन्यादान हो या राजपाट का दान, दाता दान ग्रह्यता से प्रतिफल में वापिस दान ग्रहण नहीं करता, अन्यथा दान की मर्यादा खण्डित होकर यह सौदेबाजी में परिवर्तित हो जाती है। अत: अन्य पड़िहारों सहित राणा रूपसी संगठित होकर एक संघ के रूप में मण्डोर से चले गये। महीनों-वर्षों यह संघ एक स्थान से दूसरे स्थान पर अस्थायी निवास करता रहा।

वि.सं. 1452 में यह संघ बारू (छायण) गाँव पहुँचा। उस समय बारू (छायण) में एक लुटेरे पम्मोजी (थम्मोजी) बुद्ध भाटी का स्वयंभू अधिकार था। उस क्षेत्र में दूर-दूर तक उसका आतंक था और डर के मारे लोग उसका हुक्म उठाते थे। इस पम्मोजी बुद्ध भाटी ने पड़िहारों के संघ को चारों ओर से घेर लिया तथा हुक्म दिया कि पड़िहारों की विवाह योग्य जितनी भी कन्यायें हैं उनका बुद्ध भाटियों के साथ विवाह करो और फिर यहाँ से अन्यत्र पलायन करो, अन्यथा युद्ध के लिये तैयार हो जाओ।

पड़िहार उस समय आमने-सामने युद्ध करने की स्थिति में नहीं थे। अत: आपस में मंत्रणा करके कूटनीति के तहत एक योजना बनाई। पम्मोजी के प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा कि इस समय उनकी कुल सात कन्याएँ विवाह योग्य हैं। साथ ही उन्होंने कहा कि जब तक विवाह सम्पन्न न हो, तब तक गाँव की एक दिशा में हमारे निवास का प्रबन्ध किया जाय तथा विवाह सम्पन्न होने तक उस जगह पर आम आवागमन पर प्रतिबन्ध लगाया जाए ताकि हमारी महिलाओं के कार्य करने में लज्जा बनी रहे।

पम्मोजी ने पड़िहारों की इस साधारण सी शर्त को सहर्ष स्वीकार कर लिया तथा कांटेदार झाड़ियाँ काटकर गाँव की एक ओर उनके निवास हेतु बाड़ा बना दिया। थोड़ी ही दूर पर बारातियों की आवभगत के लिये भी एक बाड़ा बना दिया। विवाह का शुभ मुहूर्त निकलवाने के बहाने कुछ पड़िहार बाहर जाकर बारूद ले आए। उस बारूद को बारातियों की आवभगत हेतु बनाए गए बाड़े में बिछाकर ऊपर मिट्टी बिछा दी। भाटियों के कारू-कमीणों को बुलाकर बाड़े के आँगन की गोबर से लिपाई करवा दी। भाटियों को इन सारी बातों से अनभिज्ञ रखते हुए, पड़िहारों के खेमे में मंगल वैवाहिक गीत गाये जाने लगे ताकि भाटियों को किसी प्रकार का शक पैदा नहीं हो।

नियत तिथि को पम्मोजी व आस-पास के तमाम बुद्धभाटी बारात के रूप में विवाह स्थल पहुँचे। सात कन्याओं हेतु बने सातों दुल्हों व बारातियों को पड़िहारों ने आवभगत हेतु बनाए गये बाड़े में बैठाया जहाँ बुजुर्ग

(शेष पृष्ठ 30 पर)

अपना व्यक्तित्व प्रभावशाली बनायें

– खुमानसिंह दुदियाँ

वांछनीय सफलता के लिये अपेक्षित गुणों में प्रभावशालिता एक बड़ा ही आवश्यक गुण है। इस गुण के अभाव में अनेक साधन-सुविधाएँ होते हुए और शरीर आदि से पुष्ट होने पर भी मनुष्य समाज में अपना वांछित स्थान नहीं बना पाता। बहुत बार देखा जाता है कि कोई व्यक्ति धन के आधार पर किसी काम को बनाना चाहता है, लेकिन व्यक्तित्व की प्रभावहीनता के कारण असफल रह जाता है। बहुत से पढे-लिखे लोग अप्रभावी व्यक्तित्व के कारण साक्षात्कार आदि परीक्षाओं में असफल हो जाते हैं। यदि किसी प्रकार वे स्थान पा भी लेते हैं, तो भी उनकी प्रभावशालिता आए दिन आडे आती रहती है। संसार में सफलता पाने और सफल जीवन बिताने के लिये प्रभावशालिता की बहुत बड़ी आवश्यकता है। प्रभावहीन जीवन का अर्थ है अरुचिकर-बेमजा जिन्दगी काटना।

सार्थक प्रभावशालिता न तो हृष्ट-पुष्ट शरीर से मिलती है, न सुन्दर आकृति अथवा रूप-स्वरूप से, न ही धन-दौलत और साधन-सुविधाओं से। इस प्रभावशालिता के आधार कुछ गुण हुआ करते हैं जो मनुष्य के व्यवहारिक जीवन व आचरण में प्रकट होते हैं। ऐसा नहीं है कि ये गुण कुछ विलक्षण होते हों, जो पाए नहीं जा सकते अथवा विकसित नहीं किए जा सकते। उन्हें पाया, सीखा और अपने जीवन में उपजाया भी जा सकता है। सजगतापूर्वक हम इन्हें जीवन में अपना सकते हैं।

पहला गुण है दूसरों का उचित मूल्यांकन करना और उन्हें वैसी मान्यता देना। संसार में प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ अच्छाई अवश्य होती है। किसी का शत प्रतिशत बुरा होना असंभव है। प्राय: लोग व्यक्ति की बुराई की ओर ही देखते हैं तथा उसी ओर संकेत करते रहते हैं। उनकी बुराइयों की चर्चा और विवेचना करने में भरपूर उत्साह दिखाते हैं लेकिन उसकी अच्छाई के प्रति मृतक की तरह मौन और कृपण की तरह संकीर्ण रहते हैं। साधारण व्यवहार का न्याय तो कहता है कि किसी की बुराई की जिस उत्साह से चर्चा की जाय, उसकी अच्छाई की भी अधिक नहीं तो उतने ही उत्साह से चर्चा की जाए। सज्जन व्यवहारिक व्यक्ति का सहज स्वभाव होता है कि वह किसी की बुराई की अपेक्षा उसकी अच्छाई पर अधिक दृष्टि रखते हैं। यथासंभव बुराई को अदृष्टिगोचर ही कर जाते हैं। यदि उसकी बुराई के प्रकाशन की आवश्यकता भी पड़ती है तो उसकी चर्चा निन्दा के रूप में नहीं, असावधानी के रूप में करते हैं। वह भी इस ढंग से कि पात्र पर उसका प्रतिक्रियात्मक नहीं, सृजनात्मक प्रभाव पड़े। गुणों को आगे रखकर किसी के अवगुणों की की गई चर्चा व्यक्ति को सुधार की ओर प्रेरित करती है। इस प्रकार सुधरा हुआ व्यक्ति सबसे पहले उस सज्जन व्यक्ति का ही भक्त बन जाता है। जीवन में इस नीति का पालन करने वाले अपने व्यक्तित्व में प्रभावशालिता का अर्जन करते हैं।

दूसरा गुण है-सार्वजनिक सद्भावना को अर्जित करना। प्राय: लोग सद्भावना का क्षेत्र अपने लोगों तक ही सीमित रखते हैं। ऐसे संकीर्ण सद्भावना वाले लोग परोक्ष रूप से स्वार्थी होते हैं। अपनों को दी हुई सद्भावना अपने पास ही आ जाती है, जिसमें कोई विशेषता नहीं। विशेषता तो तब है कि अपनों के अतिरिक्त भी सद्भावना का प्रसाद अपरिचितों को, अनजानों को वितरित किया जाय और हो सके तो विरोधियों और शत्रुओं को भी बांटा जाय। सद्भावना का प्रतिपादन सद्भावना के रूप में मिलना स्वाभाविक है। जो व्यक्ति इसको जितना व्यापक बना लेता है, विस्तृत कर लेता है, वह उतनी ही अधिक सद्भावना पाता है। व्यक्ति अपनी सद्भावना अनेक लोगों को देता है और बदले में अनेक लोगों की सद्भावना पाता है। सद्भावना के इस आदान-प्रदान में सद्भावक बहुत लाभ में रहता है। वह अनेक लोगों का प्रिय पात्र बन जाता है। उस व्यक्ति को सैंकड़ों-हजारों हाथ उठाने में लग जाते हैं। इस प्रभाव से किसी का ऊँचे से ऊँचा उठ जाना स्वाभाविक है। जिसको बहुत से लोग चाहें और प्यार करें, उसका प्रभाव बड़ी सीमा तक फैल जाता है। उसका व्यक्तित्व चुम्बक की तरह आकर्षण और सोने की तरह चमक रखता है।

उदार व्यवहार मनुष्य की प्रभावशालिता को बड़ी सीमा तक बढा देता है। क्या छोटे और क्या बड़े, क्या धनी और क्या निर्धन उदार व्यक्ति का व्यवहार सबके साथ प्रेम, सद्भावना और शिष्टता का रहता है। वह सबसे मीठा बोलता है लेकिन उसका यह व्यवहार अपने स्वार्थ के लिये नहीं होता। वह उदारता सबको सुख पहुँचाने के लिये करता है। स्वार्थ प्रेरित उदार व्यवहार का पता लगते देर नहीं लगती। उसको बच्चे भी पहचान लेते हैं। स्वार्थ सिद्धि की आशा न रहने से मिथ्या उदारता समाप्त हो जाती है। वह विमुखता, अपेक्षा और निरपेक्षता में बदल जाती है। मिथ्या उदारता के तो प्रकट होते ही उपार्जित प्रभाव तो नष्ट हो ही जाता है साथ ही पिछले और अगले प्रभाव को भी वह नष्ट कर देती है।

तीसरे गुण के रूप में प्रभावशालिता का आधार सत्य माना गया है। जो सत्यवादी है, समाज में सबके साथ अच्छा व्यवहार करता है, जैसा वह अपने को प्रकट करता है, वैसा ही अन्दर भी है, वह समाज के विश्वास और आस्था का पात्र बनता है। जरा-जरा सी बात के लिये लोगों को उससे अपना दुख-सुख और समस्याओं को कहते संकोच नहीं होता। उसको परामर्श और पथ प्रदर्शन के लिये बुलाते हैं। अपने विवादों और झगड़ों में पंचायत करवाते हैं और उसका दिया हुआ निर्णय शिरोधार्य करते हैं। इतना ही नहीं, यदि कभी विश्वास पर आपदा आ जाती है तो बड़ी संख्या में लोग उसकी सहायता के लिये दौड़ पड़ते हैं और हाथों हाथ उसका संकट दूर करने में अपनी सेवाएँ समर्पित करते हैं। यह प्रभावशालिता का बड़ा श्लाघ्य स्वरूप है। ऐसी प्रभावशालिता सत्यवादी और सत्याचरण करने वाले को ही प्राप्त होती है।

चौथे गुण के रूप में अपनाना है कि दूसरों के सम्मान की रक्षा करें। यह भी समाज में प्रभावशालिता बढाने का एक श्रेष्ठ गुण है। प्रत्येक व्यक्ति में प्रकृति प्रदत कुछ न कुछ अहंभाव होता ही है। वह चाहे स्वाभिमान के रूप में हो चाहे अभिमान के रूप में लेकिन कुछ न कुछ होता अवश्य है। अमीर हो, गरीब हो, निर्बल हो, बलवान हो सभी की इच्छा रहती है कि उसको अपेक्षित आदर मिले। हम देखते ही हैं कि धनवानों, बलवानों, अधिकारियों में यह दुर्बलता होती ही है कि उनकी प्रशंसा हो, सराहना हो। चाटुकारिता पाने की दुर्बलता भी रहती है। सामान्य व्यक्ति में चाहे ऐसी दुर्बलता न हो लेकिन वह भी इतना तो चाहता ही है कि उसके साथ असम्मानपूर्ण व्यवहार न हो।

समाज में अपना प्रभाव बढाने के लिये वाचालता के दोष से भी बचना चाहिए। विद्या, बुद्धि, ज्ञान में चाहे उपलब्धि रही हो, निरर्थक बोलने का स्वभाव विकसित नहीं करना चाहिए। अल्प और उपयुक्त बोल वाणी में प्रभावशालिता उत्पन्न करते हैं। केवल अपनी कहने की बजाय, दूसरों की सुनने के लिये तत्पर रहना चाहिए। जो दूसरों की सुनते कम हैं और अपनी ही कहते रहते हैं, उनका प्रभाव समाप्त हो जाता है। साधारणतया लोगों का स्वभाव होता है कि वे आप बीती दूसरों को सुनाने में उत्सुक रहते हैं। इससे बचना चाहिए। समाज में ऐसे लोग भी बहुत होते हैं जो दूसरे लोगों की सहज धारणा की रक्षा करते हुए व्यवहार करते हैं। ऐसे लोगों का प्रभाव बढता है। जो अपना दुख सुनाए उसको सहानुभूति पूर्वक ध्यान से सुनना चाहिए और उनके लिये अपनी संवेदना प्रकट करने में कृपणता नहीं करनी चाहिए। किसी की वेदना सुनकर उपहास करना अथवा उसकी उपेक्षा कर देना एक नैतिक दोष है। इससे ग्रस्त लोग समाज में अपने विरोधियों तथा आलोचकों की वृद्धि कर लेते हैं। ऐसी दशा में प्रभावशालिता के बढने की आशा ही नहीं करनी चाहिए।

प्रभावशालिता की वृद्धि धन, संपत्ति, विद्या, बुद्धि अथवा शक्ति के आधार पर नहीं होती। इसकी वृद्धि उपरोक्त गुणों के आधार पर ही होती है। इन गुणों के ग्रहण कर लेने पर मनुष्य साधनहीन होने पर भी प्रभावशाली बन जाता है। यदि इन गुणों के साथ में विद्या व अन्य सम्पन्नताएँ भी हों तब तो उसका प्रभाव समाज के नेतृत्व स्तर तक पहुँच जाता है। समाज में प्रभावशालिता की वृद्धि सद्भावों, व्यवहारों और सत्कर्मों द्वारा होती है, केवल सम्पन्नता के द्वारा नहीं जिसका व्यवहार व आचरण जितना अच्छा होगा, वह उतना ही प्रभावशाली बन जाएगा।

*

वीर शिरोमणि महाराणा प्रताप

– श्री उम्मेदसिंह रतनगढ़

प्रात: स्मरणीय हिन्दूपति वीर शिरोमणि महाराणा प्रताप का नाम हमारे इतिहास में अत्यन्त गौरवमय एवं महत्त्वपूर्ण है। देश प्रेम, त्याग, बलिदान, संघर्ष आदि गुणों के प्रतीक प्रताप भारतीयों के लिये श्रद्धा तथा अभिमान का विषय बन गये हैं। भारत ही नहीं समस्त विश्व में उस स्वतंत्रता के पुजारी, स्वदेश अभिमानी, दृढ़ प्रतिज्ञ और नैतिकता के अग्रणी क्षत्रिय की एक अमिट छाप है। मेवाड़ नरेश होते हुए भी उनके जीवन का अधिकांश समय वनों व पर्वतों में भटकते हुए बीता। अपने अदम्य साहस और दृढ़ इच्छा शक्ति तथा अपूर्व रण-कौशल के बल पर वह मेवाड़ को स्वाधीन रखने में सफल हुए। उनके जैसा व्यक्तित्व देश एवं समाज के लिये युग-युग तक प्रेरणादायी होता है।

मेवाड़ के सूर्यवंशी राजवंश में, गुहिल और बाप्पा रावल के वंश में अनेक पराक्रमी शासक हुए जिनमें महाराणा उदयसिंह के पुत्र प्रताप का नाम विशेष ख्याति प्राप्त है। रानी जयवंती बाई सोनगरा के गर्भ से प्रताप का जन्म ज्येष्ठ शुक्ला तृतीया वि.सं. 1597 तद्नुसार 9 मई, 1540 ई. को हुआ। 28 फरवरी, 1572 में उदयसिंह की मृत्यु के बाद प्रताप मेवाड़ के शासक बने। महाराणा उदयसिंह ने अस्वस्थ होने पर अपनी छोटी रानी धीरबाई भटियाणी के पुत्र जगमाल को चुपचाप युवराज घोषित कर दिया था। प्रताप बड़े पुत्र होने के कारण परम्परानुसार शासन के असली हकदार थे परन्तु ऐसे समय में भी उन्होंने धैर्य नहीं खोया। अपने अधिकार के लिये वह अपनी मातृभूमि पर अपने ही बन्धुओं का खून नहीं बहाना चाहते थे और न ही ऐसे संकट के समय में फूट का बीज बोना चाहते थे। उन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम की तरह पिता की आज्ञा को सर्वोपरि मानकर मेवाड़ से चले जाना ही उचित समझा, परन्तु मेवाड़ के सरदारों ने ऐसे संकट के समय प्रताप को किसी भी हालत में खोना उचित नहीं समझा और सलूम्बर के रावत कृष्णदास, रावत सांगा, ग्वालियर के राजा रामशाह तँवर और प्रताप के मामा पाली के मानसिंह सोनगरा ने सभी सरदारों को अपने पक्ष में करके जगमाल के स्थान पर प्रताप को गद्दी पर बिठाया। यहीं से मेवाड़ में गृह कलह ने जन्म लिया, जिसकी परेशानी प्रताप को जीवनभर उठानी पड़ी। जगमाल और शक्तिसिंह जैसे भाई अकबर की शरण में चले गये। उत्तराधिकार में प्रताप को छिन्न-भिन्न मेवाड़ का राज्य और शक्तिशाली मुगल सम्राट अकबर की शत्रुता ही प्राप्त हुई। चित्तौड़ और मेवाड़ का काफी बड़ा क्षेत्र अकबर के अधिकार में चला गया था।

अधिकांश राजाओं को अकबर ने प्रलोभन देकर अथवा सैन्य बल से अपने अधिकार में कर लिया था। परन्तु प्रताप को नहीं डिगा सका। प्रताप ने संघर्षमय-सम्मानपूर्ण मार्ग को अपनाया। अकबर ने सेनापति जयपुर के राजा मानसिंह आदि के नेतृत्व में संधिवार्ता का नाटक भी किया पर प्रताप स्वाभिमान से डिगे नहीं, अकबर के सामने झुकने को तैयार नहीं हुए। आक्रमणों का प्रताप ने मुँह तोड़ जवाब दिया। सन् 1576 में हल्दी घाटी का प्रसिद्ध युद्ध मुगलों और राजपूतों का निर्णायक संघर्ष था। अकबर की विशाल सेना का प्रताप ने मेवाड़ के प्रमुख राजपूतों और भीलों की सहायता से मुकाबला किया। घायल अवस्था में चेतक उन्हें युद्ध भूमि से दूर ले गया परन्तु रास्ते में ही चेतक ने दम तोड़ दिया। प्रताप का पीछा करते हुए मुगल सैनिकों को देखकर शक्तिसिंह ने भाई पर आये संकट को भांप लिया और मुगल सैनिकों का वध करके और अपना घोड़ा प्रताप को देकर भाई के प्राण बचाये। हल्दीघाटी के युद्ध में बड़ी तादाद में सैन्य शक्ति क्षीण होने पर भी प्रताप ने धैर्य नहीं खोया और पहाड़ों में शरण लेकर पुन: अपनी शक्ति संगठित करनी प्रारम्भ की। जनता का उनको भरपूर सहयोग मिला। और मेवाड़ एक विशाल सेना के रूप में संगठित हो गया।

राणा प्रताप ने जीवन पर्यन्त संघर्ष करते हुए बिताया और मेवाड़ को स्वतंत्र कराया तथा मेवाड़ में सुख शान्ति स्थापित करने में सफल हुए। अपनी प्रजा पर इन्हें अपार स्नेह था। ऐसे जनप्रिय शासक प्रताप का 19 जनवरी, 1597 को देहान्त हो गया। अपने असाधारण देशाभिमान, वीरता और चरित्र की दृढ़ता के कारण प्रताप भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रतीक बन गये। प्रताप सच्चे अर्थों में अमर हैं। प्रताप का व्यक्तित्व और कर्तृत्व हमको राष्ट्रभक्ति और राष्ट्र गौरव की रक्षा के लिये सर्वस्व न्योछावर करने की प्रेरणा देते रहेंगे।

गतांक से आगे

भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन में राजपूतों का योगदान

– संकलन : भंवरसिंह मांडासी

कुंवरसिंहजी ने वहाँ से चलकर पहले सेना को गंगा पार करवाया फिर स्वयं नाव में बैठकर गंगा पार करने लगा। इतने में ही अंग्रेजों की एक दूसरी सेना डगलस के नेतृत्व में कुँवरसिंह का पीछा करती हुई आ पहुँची। गंगा पार करने से पूर्व एक बार डगलस की सेना को कुँवरसिंह की सेना ने पराजित किया था। अब जब कुँवरसिंह गंगा पार कर रहा था, अंग्रेजी सेना के किसी सिपाही की एक गोली कुँवरसिंह के दाहिने हाथ की कलाई में लगी। सारे शरीर में विष फैल जाने के डर से वीर कुँवरसिंह ने बाएं हाथ से तलवार खींचकर दाहिने हाथ को काटकर गंगा में फेंक दिया। हाथ में पट्टी बाँधकर गंगा पार की और जगदीशपुर पहुँचे। जगदीशपुर के पास उनके भाई अमरसिंह ने भी एक सेना तैयार कर रखी थी। दोनों भाइयों ने जगदीशपुर को पुन: जीत लिया। आरा से जगदीशपुर पर कब्जा करने के लिये पुन: एक फौज लीग्रेण्ड के नेतृत्व में चली। जगदीशपुर में पहुँचे कुँवरसिंह को 24 घण्टे भी न बीते थे कि उनका दाहिना हाथ भी कट चुका था और उनके पास इस समय एक हजार से अधिक सैनिक नहीं थे। इसी समय लीग्रेण्ड की सुसज्जित सेना जगदीशपुर के पास आ पहुँची। जगदीशपुर से डेढ़ मील के फासले पर दोनों सेनाओं में संग्राम हुआ। लीग्रेण्ड की सेना में कुछ अंग्रेज व अधिकांश सिक्ख थे। इस समय कुँवरसिंह के पास कोई तोप भी नहीं थी, परन्तु फिर भी कुँवरसिंह इस तरह लड़े कि अंग्रेज सेना की भारी पराजय हुई। एक अंग्रेज अफसर जो इस युद्ध में शामिल था, लिखता है :-

''लड़ाई का मैदान छोड़कर हमने जंगल में भागना शुरू किया, शत्रु हमें बराबर पीछे से पीटता रहा, हमारे सिपाही प्यासे मर रहे थे..... कुँवरसिंह ने हमें आ दबाया। हममें से किसी के शर्म तक न रही। व्यवस्था और कवायद का अन्त हो गया। ..... कुछ वहीं गिरकर मर गये बाकी शत्रु ने काट डाले.....।'' स्वयं जनरल लीग्रेण्ड को गोली लगी और वह भी मर गया.....किसी में बन्दूक उठाने की शक्ति न रही।

इतिहास लेखक ह्वाइट ने लिखा है-''इस अवसर पर अंग्रेजों ने पूरी और बुरी हार खाई।'' इस विजय के बाद कुँवरसिंह 23 अप्रैल, 1858 से फिर अपनी रियासत पर शासन करने लगा। लेकिन हाथ का घाव ठीक न हो सका और 26 अप्रेल, 1858 को उस वीर राजपूत का देहान्त हुआ। इतिहास लेखक होम्स लिखता है :- ''*The old Rajput who has fought so honourably and so bravely against the british power died on April 26th, 1858.*''

स्वतंत्रता के पुजारी वीर कुँवरसिंह की मृत्यु के बाद उनके छोटे भाई अमरसिंह जगदीशपुर रियासत की गद्दी पर बैठे। उन्होंने चार दिन भी विश्राम नहीं किया। उन्होंने तुरन्त अपनी सेना इकट्ठी कर आरा पर आक्रमण किया। उधर से जनरल डगलस व लगर्ड की सेना भी आरा पहुँच गई। 3 मई को युद्ध हुआ। इसके बाद बिहिया, हातमपुर, दलीलपुर आदि स्थानों पर अमरसिंह ने अंग्रेजों से मुकाबला किया। अमरसिंह बार-बार अंग्रेजी सेना को पराजित कर हानि पहुँचाता रहा। निराश हो 15 जून, 1858 को जनरल लगर्ड ने त्याग पत्र दे दिया। अब डगलस ने अमरसिंह को पराजित करने की सौगन्ध खाई। जून, जुलाई, अगस्त और सितम्बर के महीने बीत गये, पर वह अमरसिंह को हरा न सका। अन्त में विवश होकर डगलस ने ऐलान कर दिया कि जो अमरसिंह का सिर लायेगा उसे बड़ा इनाम दिया जाएगा। डगलस ने सात सेनाएँ लेकर जगदीशपुर को चारों ओर से घेर लिया। अमरसिंह ने देखा इतनी बड़ी सेना को हराया नहीं जा सकता, अत: वह अपने फुर्तीले सैनिकों को लेकर अंग्रेजी सेना को चीरता हुआ निकल गया। जगदीशपुर पर अंग्रेजों का कब्जा हो गया। अंग्रेजी सेना ने अमरसिंह का पीछा किया। 19 अक्टूबर को नोनूदी गाँव के पास अमरसिंह

को घेर लिया गया। इस समय अमरसिंह के पास चार सौ सैनिक थे। इस युद्ध में तीन सौ वीर सैनिक अंग्रेज सेना के विरुद्ध लड़ते हुए मारे गये। फिर 100 सिपाहियों ने भी पैर जमाये रखे, अन्त में उनमें से भी 97 मारे गये। अंग्रेज अमरसिंह के हाथी तक पहुँचे परन्तु वे हाथी से कूद कर निकल गये। इसके बाद अमरसिंह का कहीं पता न चला। जगदीशपुर की वीर क्षत्राणियों ने शत्रु के हाथ में पड़ना अच्छा न समझकर जौहर कर लिया। इस प्रकार कुँवरसिंह और उनके भाई अमरसिंह अंग्रेजों के विरुद्ध स्वतंत्रता का युद्ध कर इतिहास में अमर हो गये।

उत्तरप्रदेश के राजपूतों का भी भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। काला (यू.पी.) के राजा हनुवन्तसिंह अंग्रेजी सेना से लड़े। अंग्रेज मेलसन के शब्दों में ही इस राजपूत का देश प्रेम अंकित करने योग्य है।

''इस उदार राजपूत (हनुवन्तसिंह) की अधिकांश जागीर अंग्रेजों की नई लगान पद्धति के कारण छीनी जा चुकी थी। वह इस अन्याय व अपमान को बहुत महसूस करता था। फिर भी वह स्वभाव से इतना उदार था कि जिस कौम ने उसे करीब-करीब बर्बाद कर दिया था उस कौम के भागे हुए अफसरों के साथ वह वैसा ही बर्ताव करता था जैसा किसी भी दुखिया के साथ। किन्तु जब विदा होते समय कप्तान बैरों ने राजा हनुवन्तसिंह से कहा,-मुझे आशा है कि इस विप्लव को शान्त करने में हमारी मदद देंगे तो राजा हनुवन्तसिंह सीधा खड़ा हो गया और बोला,-''तुम्हारे मुल्क के लोग हमारे देश में घुस आये और उन्होंने हमारे बादशाह (वाजिद अलीशाह) को निकाल दिया। एक बार में तुमने मुझसे वह सब जमीन छीन ली, जो प्राचीनकाल से मेरे कुटुम्ब में चली आती थी, मैंने सहन किया। अचानक तुम पर आफत आई तुमने मुझे बर्बाद किया था, तुम मेरे पास आए मैंने तुम्हें बचा लिया किन्तु अब-अब मैं अपनी सेना जमा करने लखनऊ जा रहा हूँ और तुम्हें मुल्क के बाहर निकालने की कोशिश करूंगा।'' इनके साथ सालोनी का जमींदार रूस्तमशाह था और इन्होंने जून 1857 में स्वतंत्रता का झण्डा फहराया।

1857 में विक्टोरिया का घोषणा पत्र प्रसारित हुआ पर देशभक्त लगातार अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध करते रहे। ए.पी. थपलियाल ने लिखा है कि इस समय तीन दल प्रमुख थे जो अंग्रजों के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे : 1. रूहेलखण्ड में मौलवी अहमदुल्लाह शाह के नेतृत्व में, 2. उत्तर-पूर्व में बेगम व नाना साहब के भाई तथा जयलालसिंह के संचालन में, 3. दक्षिण-पूर्व में बैशवारा के तालुकेदार राव बेनीमाधवसिंह के नेतृत्व में। बेनीमाधवसिंह, शिवप्रसादसिंह शंकरपुर के गोद गए थे। बेनीमाधवसिंह क्रान्ति के समय वृद्ध थे। लखनऊ पर मार्च, 1858 में अंग्रेजों का कब्जा हुआ, उस समय शंकरपुर के बेनीमाधवसिंह ने अपनी सेना एकत्रित कर गुरिल्ला युद्ध शुरू किया। मेजर बैरो ने बेनीमाधव की सेना को तीन ओर से घेर लिया पर बेनीमाधवसिंह ने आत्मसमर्पण नहीं किया और रात्रि को किला छोड़कर वहाँ से चला गया तथा डोडिया खेड़ा जा पहुँचा। वहाँ अंग्रेजी सेना से युद्ध हुआ, बहुत से सिपाही मारे गये। बेनीमाधवसिंह बहुत-सा कोष लेकर घाघरा पार हो गया। बैसवाड़ा पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया।

वृद्ध राजा बेनीमाधवसिंह ने अपनी शक्ति संचय कर लखनऊ पर चढ़ाई की। अंग्रेजों के साथ 13 माह युद्ध चला। क्रान्तिकारियों की सेना नबाबगंज में जमी थी। 13 जून, 1858 को होवग्राण्ड की सेना ने हमला बोल दिया। ग्राण्ट लिखता है : ''हम पर हमले असफल रहे, किन्तु जोरदार थे, मैंने भारत में कई युद्ध देखे और कई बहादुरों को दृढ़ता से लड़ते देखा किन्तु जमींदारों के रणकौशल से बढ़कर कोई युद्ध नहीं देखा।'' पर इन वीरों को यहाँ पराजय का मुँह देखना पड़ा। बेनीमाधव शंकरपुर पहुँच गया। अंग्रेजी सेना ने शंकरपुर को घेर लिया। कैम्पवेल ने बेनीमाधव के पास संदेश भेजा कि अब आपका विजय की आशा करना व्यर्थ है। अंग्रेजी सरकार की आधीनता स्वीकार कर लीजिए, आपको क्षमा कर दिया जावेगा और आपकी जागीर वापिस कर दी जावेगी। बेनीमाधव ने उत्तर दिया-''इसके बाद किले की रक्षा करना मेरे लिये असम्भव है, इसलिए मैं किले को छोड़ रहा हूँ। किन्तु मैं अपना शरीर आपको हरगिज सुपुर्द न करूंगा क्योंकि मेरा शरीर मेरा अपना नहीं मेरे बादशाह का है।'' और ऐसा जवाब एक स्वतंत्रता प्रेमी राजपूत के योग्य ही था। ***(क्रमशः)***

सच्ची-मनुष्यता

– सुमेरसिंह सुल्ताना

अपने सुख से सुखी होना और अपने दु:ख से दु:खी होना-यह पशुता है; तथा दूसरे के सुख से सुखी होना और दूसरे के दु:ख से दु:खी होने का स्वभाव नहीं बन जाता, तब तक वह मनुष्य कहलाने के लायक नहीं है। वह आकृति से चाहे मनुष्य दिखे, पर वास्तव में मनुष्य नहीं है। जब तक खुद के सुख से सुखी होंगे और खुद के दु:ख से दु:खी होंगे, तब तक मनुष्यता नहीं आयेगी।

जो अपने सुख के लिये दूसरों की हानि करता है, वह मनुष्य कहलाने लायक नहीं है। मनुष्य वही होता है, जो अपने स्वार्थ का त्याग करके दूसरे का हित करे, कम से कम दूसरे का नुकसान न करे। अत: यह शिक्षा ग्रहण करनी है कि हमारे द्वारा किसी को किञ्चिन्मात्र भी दु:ख न हो। दूसरों का दु:ख कैसे मिटे-इससे भी आगे दूसरों के हित की दृष्टि रखो कि दूसरों का हित कैसे हो? प्राणी मात्र के हित में रति हो-'सर्वभूतहिते रता:'। दूसरों का हित कितना करना है, कितना नहीं करना है इसकी चिंता करने की आवश्यकता ही नहीं। हमारे पास जितनी सामर्थ्य है, जितनी योग्यता है, जितनी सामग्री है, उसी को दूसरों के हित में लगाना है, उतनी ही हमारी जिम्मेवारी है। सबको सुखी बना दे-यह किसी मनुष्य की ताकत नहीं है। यह इतनी कठिन बात है कि दुनिया के सब के सब आदमी मिलकर अगर एक आदमी को भी सुख पहुँचाने की चेष्टा करें, तो भी उसको सुखी नहीं कर सकते। कारण कि उसमें जो धन की, भोगों की, मान की, बड़ाई की, आराम की लालसा है, वह ज्यों-ज्यों धन, भोग आदि मिलेंगे, त्यों त्यों अधिक बढती जायेगी। ***''जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई''***। अधिक-से-अधिक धन आदि मिलने पर भी वह तृप्त नहीं हो सकता। जब संपूर्ण दुनिया मिलकर भी एक आदमी को सुखी नहीं कर सकती, तो एक आदमी दुनिया के दु:ख को दूर कैसे करेगा? परन्तु ''दूसरे को सुख कैसे हो''-यह भाव सब बना सकते हैं, चाहे वह भाई हो या बहन हो, बालक हो या जवान हो, धनी हो या निर्धन हो। सांसारिक चीजों में किसी को अधिकार मिला है, किसी को नहीं मिला है; परन्तु हृदय से सबका हित चाहने का अधिकार सबको मिला है। इस अधिकार से कोई वंचित नहीं है।

जो अपनी शक्ति के अनुसार दूसरों का भला करता है, उसका भला भगवान अपनी शक्ति के अनुसार करते हैं। वह अपनी पूरी शक्ति लगा देता है, तो भगवान भी अपनी पूरी शक्ति लगा देते हैं। जब भगवान अपनी शक्ति लगा देंगे, तो वह दु:खी कैसे रहेगा? उसको कोई दु:खी कर ही नहीं सकता। वह भगवान को प्राप्त हो जाता है-

'त प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रता:।।' (गीता 12/4)

'सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया:।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु:खभाग्भवेत्।।'

सभी सुखी हों, सबके आनन्द-मंगल हो, कभी किसी को किसी भी प्रकार का दु:ख ना हो-यह जिसका भाव बन जाय, वही मनुष्य कहलाने लायक है। जब तक वह दूसरे के दु:ख से दु:खी नहीं होता, तब तक वह मनुष्य कहलाने लायक नहीं है। दूसरी तरफ बात और है-जो दूसरों के दु:ख से दु:खी होता है, उसको अपने दु:ख से दु:खी नहीं होना पड़ता। आप लोग ध्यान दें, अपने दु:ख से दु:खी उसी को होना पड़ता है, जो दूसरों के दु:ख से दु:खी नहीं होता और दूसरों के सुख से सुखी नहीं होता। वही संग्रही बनता है और अपने सुख का भोगी बनता है। उसको सुख का अभाव रहता है, कमी रहती है। परन्तु जो दूसरों के सुख से सुखी होता है, उसको सुख की कमी रहती ही नहीं। कमी कैसे नहीं रहती? कि उसको अपने सुख भोग की इच्छा ही नहीं रहती। संग्रह करना और भोग भोगना-ये दोनों परमात्मतत्व की प्राप्ति में बाधक है। रुपये-पैसे मेरे पास आ जायँ,

सामग्री मेरे को मिल जाय, भोग मैं भोग लूँ-यह जो भीतर की लालसा है, यह परमात्मतत्व की प्राप्ति नहीं होने देती। कारण कि संग्रह करेगा तो शरीर से ही करेगा और सुख भोगेगा तो शरीर से ही भोगेगा। अत: इस हाड़-माँस के पुतले में लिप्त रहने से, इसकी गुलामी करने से चिन्मय तत्त्व की प्राप्ति नहीं होगी। परन्तु दूसरों के सुख में सुखी होने से भोग भोगने की इच्छा और दूसरों के दु:ख में दु:खी होने से अपने लिये संग्रह करने की इच्छा नहीं रहती। दूसरे के दु:ख से दु:खी होने से उसका दु:ख दूर करने का विचार होगा। जैसे अपना दु:ख दूर करने के लिये हम पैसे खर्च कर देते हैं, ऐसे ही दूसरे का दु:ख दूर करने के लिये हम पैसे खर्च कर देंगे। हम ज्यादा संग्रह नहीं कर सकेंगे। अगर संग्रह ज्यादा हो भी जायेगा तो उसमें अपनापन नहीं होगा कि यह तो सबकी चीज है। इसलिये भागवत में आया है -

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिक योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति।।

(श्रीमद्भा. 7/14/8)

जितने से पेट भर जाय, उतनी चीज मनुष्य की है। मतलब यह है कि जितने से भूख मिट जाय, उतना अन्न; जितने से प्यास मिट जाय, उतना जल; जितने से शरीर का निर्वाह हो जाय, उतना कपड़ा और मकान-यह अपना है। इसके सिवाय अधिक अन्न है, जल है, वस्त्र है, मकान है, निर्वाह की अधिक सामग्री है, उसको जो अपना मानता है-अपना अधिकार जमाता है, वह चोर है, उसको दण्ड मिलेगा। वह कहता है कि किसी से लाये नहीं, यह तो हमारी है। पर वह हमारी कैसे? क्योंकि जब जन्मे, तब एक धागा साथ लाये नहीं और जब मरेंगे, तब एक कौड़ी साथ जायेगी नहीं। अत: हमारे पास जो अधिक सामग्री है, वह उसकी है जिसके पास उस सामग्री का अभाव है। जो दूसरों के दु:ख से दु:खी होता है, वह अपने सुख के लिये भोग और संग्रह की इच्छा नहीं करता। उसमें करुणा का, दया का भाव पैदा होता है। करुणा में जो रस है, आनन्द है, वह भोगों में नहीं है।

यह जो आप संग्रह करते हैं, इसका अर्थ है- निर्दयता, भीतर में दया नहीं है। जहाँ दया होती है, वहाँ अपने सुख के लिये संग्रह नहीं होता। क्यों नहीं होता? क्योंकि उसको ऐसे ही आनन्द आता है। संग्रह में जो सुख होता है, उसमें राजसी और तामसीपन होता है। दूसरों के सुख में जो सुखी होता है, वह सुख संग्रह में और भोगों में परिणत नहीं होता। उस सुख में बड़ा भारी आनन्द होता है। जिसका दूसरों को सुख पहुँचाने का भाव है, वह दूसरों को दु:खी देखकर आप सुख भोग ले-यह हो ही नहीं सकता। पड़ोस में रहने वालों को अन्न न मिले और हम बढ़िया-बढ़िया भोजन बनाकर खायें-यह अच्छे हृदय वालों से नहीं होता। उनको भोजन अच्छा ही नहीं लगेगा। परन्तु जिनका स्वभाव दूसरों को दु:ख देने का है, वे दूसरों के दु:ख से क्या दु:खी होंगे? वे तो दूसरों का दु:ख देखकर सुखी होते हैं। जो अपने सुख के लिये दूसरों को दु:खी बना देते हैं, अपने मान के लिये दूसरों का अपमान करते हैं, अपनी प्रशंसा के लिये दूसरों की निन्दा करते हैं, अपने पद के लिये दूसरों को पदच्युत करते हैं, वे मनुष्य कहलाने लायक भी नहीं हैं, मनुष्य तो हैं ही नहीं। वे तो पशु हैं। पशु भी ऐसे निकम्मे कि न सींग हैं, न पूँछ है। जिसके सींग और पूँछ न हो, वह भद्दा पशु होता है। उसका ढाँचा तो मनुष्य का है, पर स्वभाव पशु का है। पशु-पक्षी तो अपने पापों का फल भोगकर शुद्ध होते हैं, पर दूसरों को दु:ख देने वाले नये-नये पाप करके नरकों का रास्ता तैयार करते हैं। रामायण में आया है -

बरु भल बास नरक कर ताता।
दुष्ट संग जनि देइ बिधाता।।

(मानस 5/46/4)

अपने सुख से सुखी और अपने दु:ख से दु:खी होना दुष्टता है। नरकों में निवास बेशक हो जाय, पर ऐसे दुष्टों का संग विधाता न दे। नरकों में जितना निवास होगा, जितना नरक भोगेंगे, उतने हमारे पाप कट जायेंगे और हम शुद्ध हो जायेंगे। परन्तु ऐसे दुष्टों का संग करने से नये-नये नरक भोगने पड़ेंगे।

पशु दूसरों को दु:ख देने पर भी पाप के भागी नहीं बनते, क्योंकि पाप-पुण्य का विधान मनुष्य के लिये ही है। पशु-पक्षी दु:ख देते हैं तो अपने खाने के लिये देते हैं। वे खा लेंगे तो फिर आपको तंग नहीं करेंगे। वे अपने सुख भोग के लिये, संग्रह के लिये आपको तंग नहीं करेंगे, कष्ट नहीं देंगे। परन्तु मनुष्य लाखों-करोड़ों रुपये कमा लेगा, तो भी दूसरों को दु:ख देगा और दु:ख देकर अपना धन बढाना चाहेगा, अपना सुख बढाना चाहेगा। अत: वह मनुष्य कहलाने लायक नहीं है। वह तो पशुओं से और नरकों के कीड़ों से भी नीचा है। मनुष्य जीवन मिला है शुद्ध होने के लिये, निर्मल होने के लिये। परन्तु जो दूसरों को दु:ख देते हैं, वे पाप कमाते हैं, जिसका नतीजा बहुत भयंकर होगा। जिसके अन्त:करण में दूसरों को सुखी देखकर प्रसन्नता पैदा नहीं होती और दूसरों को दु:खी देखकर करुणा पैदा नहीं होती, उसका अन्त:करण मैला होता है। मैला अन्त:करण नरकों में ले जाता है। पशु का अन्त:करण ऐसा मैला नहीं होता है। पशु भोगयोनि है, कर्मयोनि नहीं है। वह अपने सुख के लिये दूसरों को दु:ख नहीं देता। पशु केवल अपना आहार करता है सुख नहीं भोगता है। अत: दूसरों के सुख से सुखी होना और दूसरों के दु:ख से दु:खी होना ही सच्ची मनुष्यता है। यही सच्चे मनुष्य के लक्षण हैं।

पृष्ठ 15 का शेष

विचार-सरिता

शिष्य घबराया और पैरों में गिर पड़ा और बोला कि महाराज इससे बचने का कोई उपाय? संतजी ने कहा-जाना तो तुम्हारा निश्चित है, इसे कोई टाल नहीं सकता क्योंकि मृत्यु से कौन बच पाया है, अर्थात् कोई नहीं। बस यही है कि जो कार्य तुम्हें जरूरी लगे, उसे इन सात दिनों में पूरा कर लो। फिर मरना तो है ही। वह वहाँ से चल पड़ा। घर जाकर उसने अपना कमरा भीतर से बंद कर लिया और विचार करने लगा कि जीवन तो गया, अब सात दिनों में क्या हो सकता है? पिछले पच्चीस वर्षों में जो कमाया, जिनके लिये कमाया, वे दोनों ही सात दिन बाद छूट जाएंगे। इन दोनों में से कोई भी मेरे साथ चलने वाला नहीं है। जो ठगाई हुई सो हुई अब और ठगाई नहीं कराऊँगा, अब इन सात दिनों में मुझे वह कमाई करनी है जो मेरे साथ चल सके। अब वह मौत के भय के कारण परमपिता परमेश्वर को याद करने लगा।

उसका खाना-पीना व जागतिक व्यवहार आदि सब छूट गया और केवल परमात्मा का नाम जप शुरू हो गया। निष्ठा पूर्वक तत्पर होकर परमात्मा को याद करने लगा। इसी तरह अहर्निश केवल भगवत भजन के अतिरिक्त उसे जगत के पदार्थों की स्मृति भी नहीं हुई। जब सात दिन बीत चुके तो आठवें दिन वह भागा-भागा सन्तजी के पास गया और कहने लगा-महाराजजी आपकी वाणी मिथ्या साबित हुई। आपने कहा था कि सातवें दिन तुम्हारी मृत्यु हो जाएगी पर मैं अब भी जीवित हूँ। सन्तजी ने कहा-मेरी वाणी भले ही असत्य हुई लेकिन इस असत्य के कारण तुमने सत्य की खोज कर ली। तुम सत्य में प्रतिष्ठित हो गए हो। यह मृत्यु की स्मृति ही अमृत्व का कलश छलका देती है। बताओ इन सात दिवस में तुमने मेवा मिष्ठान युक्त रुचिपूर्ण भोजन किया? क्या तुमने अपनी भार्या और बाल-बच्चों से स्नेह और आसक्ति सहित व्यवहार किया? क्या इन सात दिवस में कोई नवीन वस्त्र या भोग की वस्तु खरीदी? उसकी तरफ से एक ही उत्तर था-नहीं। मुझे तो इन सबकी याद ही नहीं आई। मुझे तो केवल मौत का साया दिख रहा था इसलिए केवल हरिचिन्तन और नाम जप में ही रहा।

सन्तजी ने कहा-तुम्हारी जिज्ञासा का भी यही उत्तर है और मेरे जीवन का भी यही रहस्य है कि मुझे भी जगत के पदार्थों की कोई स्मृति ही नहीं है, बस मेरे प्रभु के अतिरिक्त कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

इस कहानी का एक ही सार है कि जब तक साधक को मृत्यु याद रहेगी वह कभी भी अनैतिक कार्य नहीं कर पायेगा। मृत्यु की स्मृति व्यक्ति के जीवन में क्रांति लाती है। उसे जीवन जीने की शैली मिल जाती है। अत: मृत्यु से मुलाकात के लिये हर पल तैयार रहो ताकि सही रीति से परमेश्वर का भजन हो सके। *(क्रमश:)*

रघुकुल रीति सदा चलि आई

– जैसू खानपुर

एक व्यक्ति जिससे मैं परिचित था मेरा मित्र भी था, वह रास्ते में मिला उसे देखते ही मेरे पैर रुक गये। मैंने कहा अरे! यह क्या? मुझे किसी ने बताया कि तुम मर गये हो, मैं तो तुम्हारे घर आ रहा था। वह बोला किसी ने तुम्हें गलत सूचना दी है। मैं तो जिन्दा हूँ और तुम्हारे सामने खड़ा हूँ। मैंने कहा-मैं यह बात नहीं मान सकता क्योंकि जिस व्यक्ति ने तुम्हारी मृत्यु की बात कही थी, वह तुम्हारे से अधिक विश्वसनीय है। इस स्थिति में तुम्हारी बात कैसे मान सकता हूँ?

कभी-कभी हमारा विश्वास एक बिन्दु पर जम जाता है और हमें लगता है इसमें कोई दूसरी सच्चाई है। आज लोगों का विश्वास कुछ ऐसी बातों पर जम गया है, जिन्हें जानते हुये भी, कि यह बात सही नहीं है, फिर भी किसी विश्वसनीय ने कही है तो सही ही होगी।

उस विश्वसनीय व्यक्ति ने और वह सम्माननीय भी रहा हो, लेकिन यदि कोई बात परिस्थिति विशेष में कही गई हो उसे हम विचारधारा मानकर उसका दुरुपयोग करें यह बात मान्य नहीं हो सकती। असहिष्णुता पारस्परिक मैत्री की सरिता को सुखा देती है। आज हमारा विश्वास कुछ ऐसी बातों पर जम गया है, जिनको जानते हुये भी कि यह सत्य नहीं है, फिर भी उसे सच मानकर आग्रह के साथ पकड़े हुये हैं।

एक गाय दौड़ रही थी, पीछे-पीछे आदमी भी दौड़ रहा था।दो दार्शनिक उसी मार्ग से जा रहे थे। एक ने पूछा गाय को कौन पकड़े हुये है? दूसरे ने कहा-आदमी गाय को पकड़े हुए है और वह उसके पीछे दौड़ रहा है। पहले दार्शनिक ने कहा यह सही नहीं है। आदमी गाय को पकड़े हुये नहीं है, गाय आदमी को पकड़े हुये है, गाय उसके पीछे नहीं दौड़ रही वह गाय के पीछे दौड़ रहा है।

बीमार होना अच्छी बात नहीं हो सकती लेकिन बीमारी को खुलकर समझने का प्रयत्न करना अच्छी बात है। आज समय आ गया है जब हम हमारी बीमारी का अनुभव करें और इसे बड़ा मानने का कोई कारण भी नहीं होना चाहिये। बीमार अपनी बीमारी का अनुभव करे इसे बुरा क्यों माना जावे। लोग कहते हैं अमुक भगवान पहले ऐसा कहते थे, अब ऐसा कहते हैं। मुक्त यौन का समर्थन वाले पाश्चात्य देश आज ब्रह्मचर्य का मूल्य बखान रहे हैं इसे अच्छा ही माना जावे। हमें चाहिये कि यदि वर्तमान में अच्छी बात कही जा रही है तो क्या पहले की अनुपयुक्त बात को भुला देना अच्छा नहीं होगा? हमारा ध्यान विसंगति के बजाय संगति पर अधिक केन्द्रित होना चाहिए।

आदमी प्रतिदिन बदलता है और यह स्वाभाविक नियम है। बदलने के साथ न बदलने का भी एक नियम है। नहीं बदलने में विसंगति या संगति का कोई प्रश्न नहीं है। यह प्रश्न बदलने के साथ जुड़ा हुआ है। विचार परिवर्तन अस्वाभाविक नहीं है वह स्वाभाविक बनता है आग्रह के कारण।

रघुकुल रीति सदा चलि आई.....

अब इसमें आग्रह यह है कि हम उसी कुल से नाता रखते हैं जबकि हमें इतना आग्रही नहीं होना है। उस कुल की उस समय की स्थिति से अपनी तुलना करना सर्वथा तर्कसंगत नहीं लगता, कहाँ राम के समय का कुल और कहाँ हम। सिद्धान्त की सत्यता और असत्यता का निर्णय देने वाला कोई न्यायाधीश उपलब्ध नहीं है। यहाँ हमें विचार की सीमा को समझना जरूरी है। कोई भी विचार समग्र या परिपूर्ण नहीं होता। हर विचार समग्र का एक अंश होता है इसलिये उसके साथ सापेक्षता की सीमा जुड़ी रहती है। वह हमारे लिये कितना उपयुक्त है इसके बारे में सोचना होगा।

ऐशो-आराम का जीवन जीने वाले सत्ताधीश कभी

नहीं चाहते कि उनके वैभव पर कोई आँच आये अथवा उनके वैभव पर कोई अंगुली उठाये। बन्दूक की शक्ति में विश्वास रखने वाले लोग करुणा की आस्था में नहीं जीते। क्रूरता के साथ उनका निकट का सम्बन्ध होता है। हमें यह ज्ञात होना चाहिये कि ''किसी की बात को काटना मनुष्य हत्या के बराबर पाप माना गया है'' लेकिन हम सर्वज्ञ होकर किसी की बातको सुनना या जानना पसन्द नहीं करते। यह काम तो वे बिना बन्दूक ही कर बैठते हैं।

अब प्रश्न आता है कौनसा विचार पकड़ें और कौनसा नहीं। इसका सीधा सा उत्तर है-जो जनमानस के लिये हितकारी हो उसे ग्रहण किया जावे और जो मानव मूल्यों का ह्रास करता हो उसे छोड़ दें। पहले विकलांग शब्द प्रयुक्त होता था अब उसे दिव्यांगजन में परिवर्तित कर दिया गया इससे किसको कितना लाभ मिल रहा है वह अलग बात है लेकिन शब्दों का स्तर सम्मानजनक बना दिया गया। क्या हम अभी भी जोगों और नाजोगों के भेद में उलझे रहेंगे?

हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि हमारे में लोकेषणा का भाव न रहे। मान अपमान की भावना से दूर रहें। भावनात्मक समानता (*Emotional Equality*) तो नहीं दी जा सकती लेकिन अनावश्यक किसी को कमजोर तो न बतावें। यदि ऐसा करेंगे तो उनसे सहयोग की अपेक्षा कैसे संभव है?

छोटे हैं तभी बड़े हैं, जब छोटे ही नहीं रहेंगे तो बड़े भी नहीं रहेंगे। उपेक्षा और तिरस्कार के वाक्य को मानवीय मूल्यों में शामिल कैसे किया जा सकता है?

''Not to respect mistake of Past''

पृष्ठ 13 का शेष

पूज्य श्री तनसिंहजी (के सम्बन्ध में)

असमानता व भेदभाव का बर्ताव किया जा रहा है। सरकार राजपूत समाज के साथ अन्याय व अत्याचार करती आ रही है और यह खेल खुलमखुला खेलती जा रही है। सरकार का यह असली चेहरा देखने के लिये राजूपत समाज की कब आँखें खुलेगी?

राजपूत जाति से उनकी पैतृक (पुश्तैनी) भूमि छीन कर उन्हें आर्थिक दृष्टि से पंगु बनाने वाली सरकार क्या यह नहीं जानती कि यह जमीन उन्हें कैसे मिली? यह जमीन उन्हें ऐसे ही थोड़ी मिली थी। इस राष्ट्र की, इस धरोहर की रक्षा के लिये, इन्हें बचाने के लिये लड़ते-लड़ते इस राजपूत कौम की न जाने कितनी पीढियाँ समाप्त हो गयी। इस राष्ट्र को, इसकी धरोहर को बचाने के लिये इस कौम ने अनगिनित बलिदान दिये हैं, कितने ही शाके व जौहर किये हैं। इसकी रक्षा के लिये तीन-तीन पीढियाँ एक साथ काम आयी हैं, तब कहीं जाकर यह धरोहर रही है, राष्ट्र बचा है। यह पुश्तैनी (पैतृक) भूमि उन्हें माथों (सिर) के बदले मिली थी। पर आजाद भारत में इस कौम के बलिदान और त्याग को भुला दिया गया है। ये सरकारें राजपूत कौम को अपने रास्ते का रोड़ा व काँटा समझकर साफ करने में लगी हुई हैं ताकि उनकी सरकार सही सलामत बनी रहे। सत्ता के बल पर मन माना कानून बनाकर इस कौम के साथ जो अत्याचार व अन्याय किया गया है, इसको कुचलने का जो प्रयास हुआ है उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता।

सरकार की चाल थी कि इस कौम को आर्थिक दृष्टि से इतना पंगु बना दिया जाय कि फिर कभी उठ न पाये अर्थात् भविष्य में कभी संभल ही न पायें। आर्थिक दृष्टि से कमजोर, टूटा हुआ समाज राजनैतिक क्षेत्र में सबल समाज से मुकाबला नहीं कर सकता, उसके सामने नहीं टिक सकता, यही सोच कर राजपूत कौम को राजनैतिक क्षेत्र में कमजोर किया गया। आगे बढने के सारे रास्ते इस कौम के बन्द कर दिये गये। सरकार की यह दमन नीति सफल रही। भारत की आजादी इस राजपूत कौम को बड़ी महंगीपड़ी। ***(क्रमशः)***

समय : सबका सूत्रधार

– रश्मि रामदेरिया

''कुछ सम्भल सको तो सम्भलो रे। दिन बीतेंगे जो बीत चुके कुछ कहना हो तो कहलो रे। तेरी नगरी में कोई आयेगा।''

"Time is a perfect healer of all mistakes, failures & grievances. If you've tried & failed wait time will turn the wheel of fate around to success again, if you keep failth in self."

सारी दुनिया समय का ही खेल है। समय सबकी परछाई है। समय ही सबके सिर का मुकुट है और समय ही सबके गले पर लटकी तलवार। समय का स्वरूप परिवर्तनशील है। ईश्वर तो अज्ञात भी है, किन्तु समय तो रोजमर्रा के जीवन में होने वाली उठापठक से ज्ञात भी हो जाता है। धरती के इतिहास में अब तक जितने विजय-पराजय के युद्ध हुए, उत्थान हुआ कि पतन, समय सबका द्रष्टा रहा और सबका सूत्रधार भी। धरती पर अब तक जो कुछ हुआ, वह सब समय का भाग्य था।

समय सब कुछ बदलता है पर समय स्वयं नहीं बदलता है। वह किसी का रंग भी बदल देता है और किसी के बदलते रंग को देखकर अपना रंग भी बदल देता है। वह जीने-मरने की एक मिनट की भी छूट नहीं दे सकता। जिसे जीवन देना होता है, वह हर हाल में उसका संरक्षण करता है-''जाको राखे साइयां, मार सके न कोय'' और जिसका जीवन लेना है तो आदमी के सौ प्रबन्ध धरे रह जाते हैं। 'काल' बनकर उठा ही ले जाता है।

लोग हाथ पर घड़ी लगाते हैं (बांधते हैं) लेकिन इसके बावजूद समय के स्वरूप और मूल्य का ध्यान नहीं दे पाते। समय के प्रति सकारात्मक और रचनात्मक न होने के कारण ही समय मनुष्य को बूढ़ा बना देता है। समय का न अच्छा रूप होता न बुरा रूप होता है। समय के साथ एकता और मैत्री साधें। समय जो कुछ करे, भला या बुरा, बिना कुछ सोचे उसे स्वीकार कर लें, यह सोचकर कि समय ने जो कुछ किया है उसमें किसी न किसी तरह का मेरा हित समझकर ही किया है। जो कुछ मेरे साथ हुआ, वह होनी का ही हिसाब-किताब था। जो होता है, अच्छे के लिये ही होता है। यदि हम यह सोच रखेंगे, तो हम जीवन के हर उतार-चढ़ाव को पार कर सकेंगे, समय की प्रतिकूलताओं पर भी आत्मविजय प्राप्त कर सकेंगे। हम अपने हर कार्य को पूरी निष्ठा और लगन के साथ करें। फल की इच्छा ना करें।

Failure teaches us to be tolerant, teaches us to be persistent. There is a great lesson in every failure, even though we maynot for the time being, know what it is.

''मैं समय की धार हूँ, समय मेरा सूत्रधार''

अपने किसी भी काम को कल पर मत टालो। हम न केवल आज के कार्य को आज करें, वरन् कल के कार्य को भी आज कर डालना संभावित हो, तो स्वयं की ओर से प्रयत्नशील रहने में कोई कमी न रहने दें। कल का काम आज हो और आज का काम अभी इसे जीवन की सफलता का मूल मंत्र मानें। करने के लिये बहुत कुछ है। ध्यान रखें, जहाँ समय की पालना नहीं, उसके जीवन में कोई व्यवस्था नहीं होती। हम समय के साथ चलेंगे, समय हमारा साथ निभाएगा। हम समय की व्यवस्थाओं पर ध्यान देंगे समय हमारी व्यवस्थाओं पर ध्यान देगा।

समय का कोई भरोसा नहीं इसलिए जब तक हम जीयें, प्रेम से रहें, सभी से प्रेमपूर्वक बात करें। ईश्वर ने हमें परिवार दिया है ताकि हम दूसरों से प्रेम करना सीखें और उसी तरह का प्रेम सभी को दे सकें। हमारे आत्मीयजनों को मृत्यु एवं अन्य परिस्थितियों द्वारा हमसे दूर खींच लिया जाता है जिससे कि हम केवल मानवीय सम्बन्धों में ही लोगों से प्रेम करना न सीखें बल्कि उस दिव्य प्रेम के साथ प्रेम में डूब जाएँ जो स्वयं ईश्वर ही है, सभी मानवीय मुखौटों के पीछे विद्यमान एकमात्र प्राण। जिस क्षण यह पुरुष आत्माओं के पृथक भाव को उस

'एक' परमात्मा में ही स्थित तथा उस परमात्मा से ही संपूर्ण आत्माओं का विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। कुछ लोग किसी छोटी-सी बात से ही भावुक होकर विचलित हो जाते हैं। हमें अपनी इन्द्रियों पर पूरा नियंत्रण रखना चाहिये। न ज्यादा दु:खी ना ही ज्यादा सुखी हों। हमें अपने जीवन को एक त्रिभुज रूपी दिशानिर्देशक के अनुरूप ढालना चाहिये जिसकी दो भुजाएँ शान्ति व मधुरता हैं तथा प्रसन्नता जिसका आधार है।

"To control thought is the secret of all progress on this earth and that power is yours if you will exercise it"

सोच मनुष्य की अस्मिता है। सोचने की क्षमता मनुष्य की सबसे बड़ी शक्ति है। इस एक शक्ति से उसके जीवन की सारी शक्तियाँ और गतिविधियाँ संयोजित हैं। समय निरंतर हमें देख रहा है। वह देख रहा है सृष्टि के लिये कौन उपयोगी है और कौन आलसी-अवांछित। हम सभी मिलकर हमारे बहुमूल्य समय का सदुपयोग करें। हमारी जाति, कुल व धरती को स्वर्णिम बनाएँ।

''कर्मशील हुए बिना मिटी कभी तबाही!
ग्राम-ग्राम नगर-नगर संघ दे दिखाई।।
आज बन्धु स्नेह की बहार दे दिखाई।।''

*

पृष्ठ 18 का शेष

रावत्रियांजी

पड़िहार बारात की आवभगत व अमल की मनुहार हेतु उपस्थित थे। मनुहारें चलती रही। प्रसन्नता और नशे में यह भी ध्यान नहीं था कि कौन वहाँ उपस्थित है और कौन नहीं। इसी बीच बारूद भभक उठा जिससे दुल्हों सहित सैकड़ों बाराती स्वाह हो गए। पम्मोजी सहित सभी बुद्धभाटी मारे गए। डर के मारे गाँव की औरतें भी सुरक्षित स्थान हेतु पलायन कर गई। पूरा इलाका विरान हो गया तथा बुद्ध भाटियों के बसे-बसाये घर सुनसान हो गए। ऐसी स्थिति में पड़िहारों ने संघरूप में विभिन्न स्थानों के अब तक चल रहे पलायन को विश्राम दे दिया।

इस अग्निकाण्ड से पूर्व पड़िहारों की सातों कन्याएँ इस योजना से अनजान थी। उन्होंने कहा कि हम सब ने तो मन ही मन बुद्ध भाटियों के दुल्हों को अपना पति मान लिया था। अत: अब हमारा जीवन व्यर्थ है। अपना धर्म निभाते हुए हम अग्नि स्नान करेंगी। इनके साथ ही दहेज में दिए जाने के लिये नियुक्त सातों दासी पुत्रियों ने भी अपनी इच्छा प्रकट करते हुए कहा कि हम अपनी इन सखियों के वियोग में जीवित नहीं रह सकती और हम भी इनके साथ अग्नि स्नान करेंगी। उसी आवभगत हेतु बनाए गये बाड़े में इन सातों लूलावत पड़िहारों की कन्याओं तथा दासी पुत्रियों ने अग्नि स्नान कर अपना धर्म निभाया।

ये ही आज सात ऊजली व सात मैली बायांजी हैं, जिनको सभी पूजते हैं। इन्हें ही रावत्रियांजी कहा जाता है। अग्नि स्नान से पूर्व इन कन्याओं ने राणा रूपसी को शाप दे दिया। जिससे बारू और छायण इलाके में रहना खतरे से खाली नहीं था। इसलिए राणा रूपसी से लेकर सूर पड़िहार तक की मारवाड़ के पड़िहारों की पीढियाँ बड़ी अस्त-व्यस्त रही। बारू (छायण) एक ऐतिहासिक गाँव है जिसमें जगह-जगह शिलालेख व देवलियाँ लगी हुई यह दर्शाती है कि कभी यहाँ पर जुझारू जमघट मचा था।

इन कन्याओं ने रावतसर नामक तालाब, जो कि रामदेवरा में स्थित है, में प्रकट होकर लोगों को परचा दिया, इसलिए नाम 'रावत्रियां' हुआ। राजपूत तथा भील, मेघवाल इन्हें पूजते हैं। रावत्रियांजी का पुजारी भील जाति का होता है। गुड़ लापसी का भोग लगता है जिसे स्थानीय बोली में 'लछगच्छा' कहा जाता है। रावत्रियांजी के थान में सात-सात मूर्तियाँ ऊजली और मैली पत्थरों पर अलग-अलग खड़ी हैं। तत्कालीन ढाढियों ने सारंगी पर गीत गाकर राणा की योजना को कोसा-

घातां भली नहीं राणा रूपड़ा, बुध धर पड़िहारा।

*

भक्त श्री माधोदास जी मैदानी

– अवधबिहारीलाल कपूर

अनुमानत: सोलहवीं शताब्दी का प्रारम्भिक काल था। जैसलमेर राज्य के बार-टेकरा ग्राम के माधोसिंह भाटी नाम के छापामार लुटेरों के एक जत्थे के सरदार पूगल और बीसलपुर के बीच के खण्डहरों में रहते और राहगीरों को लूट लिया करते। एक बार इस क्षेत्र में अकाल पड़ा। अनाज सिन्ध से मँगाया जाने लगा। एक दिन कुछ व्यापारी अनाज से लदे ऊँटों का काफिला लेकर आ रहे थे। उन्हें रात में वहीं डेरा डालना पड़ा, जहाँ माधोसिंह का पड़ाव था। रामानन्द सम्प्रदाय के साधु मोहनदास जी भी कोलायत तीर्थ से उनके साथ हो लिये थे। जाड़े के दिन थे। साधु जी ने धूनी चेताई और उसके सामने बैठ गये। व्यापारी धूनी के चारों ओर बैठकर अग्नि तापते हुए आपस में बाते करने लगे।

एक ने कहा-'भगवान आज की रात किसी प्रकार सही-सलामत निकाल दे। कहीं माधोसिंह को खबर पड़ गई तो हम सबको लूट ले जाएगा।'

दूसरे ने कहा-'आज हम सबको बारी-बारी से जाग कर पहरा देना होगा।'

तीसरे ने कहा-'नहीं, पहरे से क्या होगा? हम सबको सारी रात जागते रहना होगा। माधोसिंह बड़ा खूँखार है।'

साधु मोहनदास जी से किसी ने कहा-''बाबा, तुम भी जागते रहना। जो तुम्हारे पास हो उसे सम्हालकर रखना।''

मोहनदास जी ने कहा-'मेरे पास राम-नाम के सिवा और है ही क्या, जिसे सम्हाल कर रखूँ? मेरा तो रात में जागकर नाम-जप करने का अभ्यास ही है, सो करता रहूंगा। यदि माधोसिंह राम-नाम लूटकर ले जाना चाहेगा तो खुशी से लुटा दूँगा। नहीं भी लूटना चाहेगा, तो लूट ले जाने को कहूंगा। कहूँगा-

''राम नाम की लूट है, लूटी जाय तो लूट।
अन्त काल पछतायगा, जब प्राण जायेंगे छूट।।''

प्राण कब छूट जायेंगे इसका कुछ ठीक नहीं। यूँ समझ ले कि कल छूट जायेंगे। यह समझ कर आज राम-नाम को जितना लूट सके लूट ले। कल फिर यह अवसर न मिलेगा। काल रूपी माली जगत रूपी उद्यान के एक-एक पुष्प को चुनकर लिए जा रहा है, कल तुझे भी ले जाएगा-

माली आवत देखि कै, कलियाँ करी पुकार।
फूली-फूली चुन लई, काल हमारी बार।।

किसी ने कहा-''बाबा! माधोसिंह क्या तुम्हारा उपदेश सुनेगा? उल्टा डण्डा मारेगा और कहेगा-नाम से क्या होगा? नाम से क्या मेरा पेट भरेगा।''

''डण्डा मारेगा तो मार लेगा। मैं तो उससे यही कहूँगा कि नाम चिन्तामणि है, उससे मनुष्य जो चाहे प्राप्त कर सकता है। नाम अन्त:करण की शुद्धि कर ज्ञान प्रदान करता है, मुमुक्षों को मुक्ति और कामना-वासना करने वालों को समस्त काम्य वस्तुएँ प्रदान करता है-

सत्वशुद्धिकरं नाम नाम ज्ञानप्रद स्मृतम्।
मुमुक्षूणां मुक्तिप्रदं कामिनां सर्व कामदम्।।

(सात्वत तंत्र)

''साधु बाबा नाम का ऐसा फल हो सकता है और लोगों के लिये, माधोसिंह जैसों के लिये नहीं, जिसके पापों का अन्त ही नहीं। न जाने कितने लोगों को लूटा-पीटा और मौत के घाट उतारा है उसने, कितनी विधवाएँ और बच्चे रोते-बिलखते, एक-एक दाने को तरसते महादु:खमय और अन्धकारमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं उसी के कारण। हम जैसे यात्रियों के भय का कारण भी तो आज वही बना हुआ है। हमारे बीबी बच्चों का भी भाग्य शूली पर लटकता दीख रहा है उसी के कारण। उसके पापों के आगे नाम झूठा नहीं पड़ जायेगा?''

''नहीं, ऐसा नहीं। नाम की शक्ति अनन्त है। श्रीमद्भागवत में कहा है-

''स्तेन: सुरापो मित्रध्न ब्रह्महा गुरुतल्पग:।
स्त्रीराजपितृगोहन्ता ये च पातकिनोऽपरे।।

सर्वेषामप्यधवतामिदमेव सुनिष्कृतम्।
नामव्याहरण विष्णोर्यत्स्तद्विषया मतिः।।''

– चोर, शराबी, मित्रद्रोही, ब्रह्मघाती, गुरुपत्नीगामी ऐसे लोगों का संसर्गी, स्त्री, राजा, पिता और गाय को मारने वाला, चाहे जैसा और चाहे जितना बड़ा पापी हो, उसके लिये इतना ही प्रायश्चित पर्याप्त है कि भगवान के नामों का उच्चारण करे, क्योंकि भगवन्नामों के उच्चारण से मनुष्य की बुद्धि भगवान् के गुण लीला और स्वरूप में रम जाती है और स्वयं भगवान् की उसके प्रति आत्मीय बुद्धि हो जाती है।''

''इसलिए मैं तो उससे यही कहूँगा–लूट–पाट छोड़ दे। मृत्यु तेरे सिर पर खड़ी है। लूट का माल तेरे साथ नहीं जाएगा। उसका पाप साथ जायेगा, जो तुझे नरक में ले जायेगा। लूटना ही है तो राम–नाम को लूट। वह तेरे साथ जायेगा और तुझे राम के पास ले जायेगा।''

इतने में एक लम्बे–चौड़े डी–डौल का बड़ी–बड़ी मूँछों वाला मनुष्य न जाने कहाँ से आकर सामने खड़ा हो गया। सब उसे देख भयभीत हुए। पर उसने सबको हाथ जोड़कर प्रणाम किया, साधु मोहनदास जी के चरण स्पर्श किए और बोला–''आप लोग लुटेरे माधोसिंह के भय से परेशान न हों। वह तो मर गया।''

''मर गया! कब?'' मोहनदास जी ने आश्चर्य से पूछा।

''अभी, अभी।''

''अभी! कैसे?''

''राम–नाम की गोली लगने से।''

''गोली! राम–नाम की?''

''हाँ, अभी आप राम–नाम का माहात्म्य कह रहे थे न। वह झाड़ी के पीछे खड़ा सुन रहा था। उसने राम–नाम का ऐसा माहात्म्य पहले कभी नहीं सुना था। माहात्म्य ने उसके मर्मस्थल को गोली की तरह भेद दिया। पश्चाताप की अग्नि उसके भीतर धूँ–धूँ कर जलने लगी। उसने लुटेरे माधोसिंह को जलाकर भस्म कर दिया और एक नए माधोसिंह को जन्म दिया, जो राम–नाम का आश्रय लेकर शेष जीवन भजन–साधन में व्यतीत करने के लिये कृतसंकल्प है।''

''तो वह नया माधोसिंह–''

''नया माधोसिंह ही अब आपके सामने खड़ा है। आपके आशीर्वाद की प्रार्थना कर रहा है। आप आशीर्वाद दें, जिससे यह अपने संकल्प पर दृढ़ रहकर जीवन सफल कर सके। साथ ही दीक्षा देकर कृतार्थ करें।'' कहते–कहते माधोसिंह अपने कपड़े उतार–उतार अपने अस्त्रों–शस्त्रों के साथ धूनी में डालने लगा।

''यह क्या कर रहे हो वत्स?'' मोहनदास जी ने पूछा।

माधोसिंह ने कहा–''यह लुटेरे माधोसिंह की अन्त्येष्टि क्रिया कर रहा हूँ महाराज। उसका कोई भी चिह्न अब मैं नहीं रख सकता।''

व्यापारियों का भय जाता रहा। रात्रि भर माधोसिंह के संरक्षण में उन्होंने विश्राम किया। प्रातः होते ही वहाँ से प्रस्थान किया। मोहनदास जी ने माधोसिंह को दीक्षा दी। एक–दो दिन रुक कर उसे उपदेश दिया और तब प्रस्थान किया।

यात्री सब चले गए। पर माधोसिंह राम–नाम का जप करते हुए धूनी के सामने बैठे रह गए। वे अपने साथियों को जंगल में छोड़कर आए थे। उनसे कह आए थे–''मैं यात्रियों का भेद लेने जा रहा हूँ। तुम लोग यहाँ मेरी प्रतीक्षा करना।'' साथी रात्रि भर प्रतीक्षा करते रहे थे। सबेरा होते ही उन्हें खोजते हुए उधर आ निकले, जहाँ वे धूनी के सामने बैठे राम–नाम का जप कर रहे थे। उन्हें इस मुद्रा में देखकर सब के सब आश्चर्य में डूब गए। पूछा–''सरदार, यह क्या कर रहे हो?''

सरदार ने कहा–''मैं वही कर रहा हूँ, जो अपना कल्याण चाहने वाले एक मनुष्य को करना चाहिए। मैंने सारी उम्र लूट–पाट करने में बिता दी। अब मैं भगवान का भजन छोड़ और कुछ नहीं करूंगा। तुमसे भी यही करने को कहूँगा। यदि तुम यह नहीं कर सकते तो इस क्षेत्र को छोड़कर कहीं अन्यत्र चले जाओ। मुझे निर्विघ्न भगवान का भजन करने दो।''

साथी वहाँ से चले गए। माधोदास खुले मैदान में उसी धूनी के सामने बैठे रह गए। वहीं बारह वर्ष तक

तपस्या करते रहे। इसलिए उनका नाम माधोसिंह मैदानी पड़ गया।

बारह वर्ष तक उस स्थान पर तपस्या करते-करते माधोदास सिद्ध हो गए। तब प्रभु की प्रेरणा से उसे छोड़कर बीकानेर से सात कोस दूर कोड़मदेसर चले गए। कोड़मदेसर में जोधासर नाम का एक विशाल तालाब है, जिसे जोधपुर राज्य की स्थापना करने वाले राव जोधा जी ने अपनी माँ कोडम दे के सती हो जाने पर उनकी स्मृति में बनवाया था। उस तालाब के निकट माधोसिंह जी ने अपना आसन जमाया। तालाब के पास ही एक शक्तिशाली भैरव का स्थान था। उससे तप:सिद्ध माधोसिंहजी का तेज सहन न हुआ। उसने प्रकट होकर उनसे कहा-''यहाँ मैं रहता हूँ, आप कहीं अन्यत्र जाकर अपना आसन जमायें।'' माधोदास जी ने कहा-''ठीक है, मैं अन्यत्र चला जाता हूँ। तुम मेरी खडाऊँ उठाकर ला दो।'' भैरव खड़ाऊँ उठाने लगा तो उसका हाथ उसके नीचे दबकर रह गया। उसने बहुत चेष्टा की खड़ाऊँ उठाने की, पर न खड़ाऊँ उठ सका, न उसके नीचे से हाथ निकाल सका। तब हारकर वह बोला-''महाराज मुझसे अपराध हुआ, क्षमा करें। आप कहीं न जाएँ। यहीं रहकर भजन करें। मैं आपकी सेवा करूंगा। मुझे अपना शिष्य बना लें।''

माधोदास जी ने उसे वैष्णवी दीक्षा देकर शिष्य बना लिया। नाम रखा-खेमदास। खेमदास सदा माधोदास जी की सेवा में तत्पर रहता। एक बार तालाब पर साधुओं की बहुत बड़ी जमात आकर ठहरी। माधोदास की इच्छा हुई उनकी सेवा करने की। उन्होंने खेमदास से कहा-''खेमदास, इन साधुओं के लिये प्रसाद की व्यवस्था करो।''

खेमदास उसी समय मुलतान गया, जहाँ एक बड़े सेठ के घर विवाहोत्सव हो रहा था। दो बहुत बड़े कड़ावों में बारातियों के लिये हलवा बना रखा था। खेमदास हलवे का एक कड़ाव उठा लाया। माधोदास ने हलवे को भगवान को निवेदित कर प्रसाद साधुओं में वितरण किया। साधुओं ने भरपेट हलवा खाया। उसी समय उन्होंने अपनी धूनी की थोड़ी भभूत खेमदास को देकर कहा-''इसे मुलतान के सेठ के यहाँ हलवे के दूसरे कड़ाव में डाल आओ।'' खेमदास ने इस आज्ञा का भी पालन किया। भभूत के प्रभाव से उस एक ही कड़ाव के हलवे से बारात को पूरा पड़ गया।

मुलतान के सेठ का एक लड़का गूँगा था और बहुत बीमार रहता था। खेमदास ने उससे कहा-''इसे कोड़मदेसर में श्री माधोदासजी मैदानी के पास ले जाओ तो ठीक हो जाएगा।'' सेठ लड़के को लेकर कोड़मदेसर गया। वहाँ अपना कड़ाव देखकर चकित रह गया। उसने उसे बार-बार ध्यान से देखा-कहीं मुझे भ्रम तो नहीं हो रहा। पर कड़ाव पर उसका नाम खुदा हुआ था। उसे देख उसकी शङ्का जाती रही। माधोदास की शक्ति में उसे पूरा विश्वास हो गया। उसने उनसे अपने लड़के को अच्छा कर देने की प्रार्थना की और कहा-''यदि लड़का आपके आशीर्वाद से ठीक हो गया, तो इसे आप ही की सेवा में छोड़ दूंगा।''

माधोदासजी की कृपा से लड़का ठीक हो गया। उसका गूंगापन भी जाता रहा। सेठ ने उसे सदा के लिये माधोदास को समर्पित कर दिया। माधोदास जी ने उसे दीक्षा दी। नाम रखा-सुन्दरदास।

माधोदास जी ने कोड़मदेसर में एक मन्दिर का निर्माण करवाया और उसमें सीताराम की मूर्ति स्थापना कर सेवा की सुन्दर व्यवस्था की। वह मन्दिर कोड़मदेसर में आज भी विद्यमान है। मुलतान के सेठ का कड़ाव और माधवदास की धूनी भी आज तक वहाँ सुरक्षित है। श्रद्धालु लोग धूनी की भभूत का अपनी मनोकामना की पूर्ति के लिये प्रयोग करते आये हैं।

माधोदास जी के धाम-गमन के पश्चात् उनके शिष्य सुन्दरदास जी गद्दी पर बैठे। उनकी परम्परा वहाँ चली आ रही है। माधोदास की परम्परा में सीता-राम की सगुण उपासना है। पर उनकी तीसरी चौथी पीढ़ी में हरिराम नाम के एक सन्त हुए, जिनसे सीताराम की रसमयी उपासना छूट गई। उन्होंने नीरस उपासना का एक नया पंथ चलाया।

अपनी बात

स्थिति का अर्थ है, ठहराव। जो स्थिर हो, उसे जाना जा सकता है, पहचाना जा सकता है। परमात्मा स्थिर है अत: उसे जाना जा सकता है, पहचाना जा सकता है। कितने ही जन्मों, कल्पों, युगों बाद भी वह वही होगा, किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होगा। इसलिए वह भरोसे योग्य है। संसार तो प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है अत: वह भरोसे योग्य नहीं है। वह तो छाया की भाँति है।

खलील जिब्रान की एक प्रसिद्ध कहानी है। एक लोमड़ी सुबह-सुबह उठी। भोजन की तलाश पर निकली। सूरज उदय हो रहा था। सूरज के विपरीत दिशा, पश्चिम की ओर मुँह कर वह चल रही थी। सुबह-सुबह लोमड़ी की छाया बहुत लम्बी बनी। लोमड़ी ने अपनी छाया देखी और सोचा, मैं इतनी बड़ी हूँ तो आज तो एक हाथी मिले तभी पेट भर पाएगा। इतनी लम्बी छाया कि एक हाथी के बिना पेट भर भोजन का कोई उपाय नहीं। छाया देखकर ही लोमड़ी जान सकती है कि मैं कितनी लम्बी हूँ। जानने का और तो कोई उपाय ही नहीं। हम भी दर्पण से ही जानते हैं कि हम कैसे हैं, अन्य क्या उपाय है। दर्पण यानी छाया।

लोमड़ी बड़ी चिंतित भी हुई, क्योंकि कहाँ पाएगी हाथी? उधर भूख बढने लगी और वह हाथी खोजती रही, खोजती रही। दोपहर हो गई, सूरज ऊपर आ गया, अभी तक भोजन भी नहीं मिला। हाथी को पाने का ख्याल तो भूख भी हाथी जैसी, हाथी को पचाने जैसी भूख भीतर हो गई। क्योंकि सारा मन का ही खेल है।

लेकिन हाथी मिला नहीं, भोजन मिला नहीं। नीचे झुककर उसने फिर अपनी छाया देखी। सूरज अब ऊपर आ गया था, तो छाया करीब-करीब खो गई। तो लोमड़ी ने सोचा अब तो एक चींटी भी मिल जाए तो भी काम चलेगा।

संसार छाया की तरह है। और बचपन में हर आदमी सोचता है कि हाथी नहीं मिला, तो काम नहीं चलेगा। और बुढापे में हर आदमी जानता है कि चींटी भी मिल जाए, तो भी काम चलेगा। छाया छोटी होती जाती है।

सभी बच्चे सिकन्दर बनना चाहते हैं। सभी बूढे कहने लगते हैं, अंगूर खट्टे हैं। सभी बच्चे संसार को जीतने निकलते हैं। सभी बूढे वैराग्य की बातें करने लगते हैं। इसलिए नहीं कि वैराग्य बन गया है, बल्कि इसलिए कि छाया सिकुड़ गई। और अब इतने से भी काम चल जाएगा। और कुछ न भी मिले, तो भी काम चल जाएगा।

उनके वैराग्य का मतलब है, छाया सिकुड़ गई। यह कोई वास्तविक वैराग्य नहीं है। वैराग्य प्राप्त हो तो जवानी में भी आ सकता है। इसके लिये बुढापे तक रुकने की कोई जरूरत ही नहीं। यह जो लोमड़ी का कहना है कि चींटी से भी काम चल जाएगा, यह कोई बुद्धिमता नहीं है। यदि यह बुद्धिमत्ता होती तो, सुबह भी छाया की भ्रांति में आने का कोई प्रयोजन नहीं था। यह तो सिर्फ छाया की सिकुड़न है।

संसार प्रतिपल बदलती छाया है इसलिए इसे समझने का ठीक-ठाक उपाय नहीं है। इसकी कोई स्थिति नहीं है। इसको जानने में उलझने की कोई जरूरत नहीं है क्योंकि इसको जान-जानकर भी कोई कभी जान नहीं पाता। सौ वर्ष पूर्व विज्ञान सोचता था कि जल्दी ऐसा दिन आ जाएगा जब हम सब जान लेंगे। अब वैज्ञानिक कहते हैं कि यह दिन कभी भी नहीं आएगा। जितना हम जानते हैं उतने ही अनजान तथ्य सामने आ जाते हैं, जिनको जानने की चुनौती मिल जाती है। एक समस्या हल हुई और पचास खड़ी हो जाती हैं। अब विज्ञान का भरोसा डगमगा गया है। अब विज्ञान मानता है कि कोई अन्तिम ज्ञान उपलब्ध हो सकेगा, इसकी आशा नहीं है।

परमात्मा ही जाना जा सकता है। उसकी स्थिति है। इसलिए धर्म के अतिरिक्त ज्ञान का कोई भी द्वार नहीं है। ज्ञान धर्म के माध्यम से उपलब्ध होगा। वह तभी उपलब्ध होगा जब हम स्थिति को उपलब्ध हो जाएँ। परमात्मा की स्थिति है और हमारी गति है, तो मिलन नहीं हो सकता। समान-समान का ही मिलन संभव है। हम स्थित होंगे तो उससे मिलन हो जाएगा। श्री क्षत्रिय युवक संघ में अहंता, ममता और वासना को काटकर हमें स्थित बनाने का प्रयास व अभ्यास करवाया जाता है। अहंता ममता व वासना में सुख नहीं है, यह अगर अनुभूत हो जाए तो इनसे वैराग्य भी पैदा हो जाता है। वैराग्य को स्थिर व दृढ़ करने के लिये अभ्यास की आवश्यकता है। इसीलिए संघ प्रशिक्षण में लगातार जुड़े रहने की आवश्यकता है।